प्राकृत-प्रवेशिका

डा० कोमलचन्द्र जैन

तारा पब्लिकेशन्स

१९७९

डा० कोमलचन्द्र जैन

एम०ए०, पी-एच० डी०, जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य
संस्कृत-पालि विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्राक्कथन-लेखक

डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य

प्राध्यापक, संस्कृत-पालि विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

तारा पब्लिकेशन्स

१९७९

K. B. Goudar

आदरणीय नन्द किशोर जी

को

सादर समर्पित

जिनकी कृपा के लिए

आजन्म ऋणी बना रहूंगा

—कोमलचन्द्र जैन

विषय-सूची

संकेत-विवरण	... ...	vi
प्राक्कथन	... ...	vii
भूमिका	... ...	ix
भाग १ :	व्याकरण	१—६१
पहला अध्याय	वर्ण-परिचय	१
दूसरा अध्याय	स्वर-परिवर्तन	३
तीसरा अध्याय	सरलव्यञ्जन-परिवर्तन	६
चौथा अध्याय	संयुक्तव्ञ्जन-परिवर्तन	१२
पाँचवाँ अध्याय	सन्धि-प्रकरण	१९
छठा अध्याय	कृत्प्रत्यय	२५
सातवाँ अध्याय	तद्धितप्रत्यय	२८
आठवाँ अध्याय	समास	३१
नवाँ अध्याय	स्त्री-प्रत्यय	३२
दशवाँ अध्याय	लिङ्गानुशासन	३३
ग्यारहवाँ अध्याय	कारक	३५
बारहवाँ अध्याय	अव्यय	३६
तेरहवाँ अध्याय	शब्द-रूप	३८
चौदहवाँ अध्याय	धातु-रूप	५४
भाग २ :	संकलन	६२-७८

महाराष्ट्री-प्राकृत (सामान्य-प्राकृत)

१. गाथावली	... ...	६२
२. वानर-प्रोत्साहनम्	... ...	६५
३. सुभाषितानि	... ...	६८
४. काव्य-चर्चा	... ...	७१
५. दोला-लीला	... ...	७४
६. उषाऽनिरुद्धयोर्दर्शनस्य कौतुकम्	... ...	७६

	शौरसेनी-प्राकृत	७९-९६
	प्रमुख विशेषताएँ	७९
७.	चक्रवत्परिवर्तन्ते	८१
८.	अभिशाप-मर्षणम्	८४
९.	अभिसारः	८६
१०.	समराङ्गणम्	८९
११.	परिहास-विजल्पितम्	९१
१२.	कपट-प्रतिस्पर्द्धा	९४
	मागधी-प्राकृत	९७-११३
	प्रमुख विशेषताएँ	९७
१३.	प्रत्यभिज्ञानकम्	९९
१४.	घट्टकुट्यां प्रभातम्	१०२
१५.	दुर्वृत्तवृत्तम्	१०४
१६.	कापटिक-प्रलापः	१०७
१७.	शोणित-पिपासा	१००
१८.	योग्यं योग्येन	१११
	अर्द्धमागधी-प्राकृत	११४-१३१
	प्रमुख विशेषताएँ	११४
१९.	भोगानामसारता	११६
२०.	धर्म-पाखण्डं त्यजेत्	११८
२१.	वाक्-शुद्धिः	१२१
२२.	श्रेणिकराजस्य प्राणत्यागः	१२३
२३.	विनयोपदेशः	१२६
२४.	जीवस्स दश दशा:	१२९
	जैन-शौरसेनी-प्राकृत	१३२-१४८
	प्रमुख विशेषताएँ	१३२
२५.	दशधर्माणि	१३३
२६.	समताऽभ्यासः	१३५
२७.	आत्मप्रशंसा त्याज्या	१३८
२८.	कल्पवृक्षाः	१४०
२९.	पञ्चपरमेष्ठिनः	१४३
३०.	धर्म-माहात्म्यम्	१४६

	जैन-महाराष्ट्री-प्राकृत			१४९-१६६
	प्रमुख-विशेषताएँ	....	....	१४९
३१.	राम-विलापः	...	....	१५०
३२.	शठे शाठ्यं समाचरेत्	...	...	१५२
३२.	कल्पना-विलसितम्	...	...	१५५
३४.	अर्थोऽप्यनर्थः	...	....	१५८
३५.	रत्नलाभ-योग्यता	....	...	१६१
३६.	भाग्यं फलति सर्वत्र	...	....	१६५
	प्रमाण-ग्रन्थ-सूची	....	...	१६७

संकेत-विवरण

क्रम०—क्रमदीश्वर कृत प्राकृत-व्याकरण (संक्षिप्त-सार)

प्रा० व्या०—प्राकृत-व्याकरण (हृषीकेश शास्त्री द्वारा संकलित)

पि० प्रा०—पिशल कृत प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

मा०—मार्कण्डेय कृत प्राकृत-सर्वस्व

वर०—वररुचि कृत प्राकृत-प्रकाश

हे०—हेमचन्द्र कृत प्राकृत-व्याकरण

I. P.—Introduction to Prakrit

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा के समान्तराल, प्राचीन भारत की प्रमुखतम भाषा प्राकृत रही है—यह तथ्य विद्वानों का परोक्ष नहीं है। 'संस्कृत ही मूल है प्राकृत उससे निकली है' इस मत के सर्वथा विरोधी मतवाद प्राकृत को मूल मान कर उसी के संस्कृत स्वरूप को संस्कृत मानना चाहता है। प्राकृत के विषय में इस प्रकार के कई प्रश्नों की मीमांसा सुगम न होने पर भी इतना सुनिश्चित है कि संस्कृत और प्राकृत में पुराने युग में विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं था और हमारा प्राचीन साहित्य इन दोनों भाषाओं के परस्पर परिपूरक स्वरूप को स्पष्ट रूपसे उद्घाटित करता है। प्राकृत और संस्कृत का यह मैत्रीबंधन सर्जनात्मक साहित्य में विशेषरूप से दृष्टिगोचर होता है। नाटकों में दोनों भाषाओं का योगपद्य और अलंकारशास्त्रों में सैद्धान्तिक उदाहरणों के लिए प्राकृतसाहित्य का निर्विशेष उपयोग निःसंशय सिद्ध करता है कि एक के ज्ञान के बिना दूसरे का ज्ञान अपूर्ण माना जाता रहा। सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त, जैनधर्मदर्शन के क्षेत्र में प्राकृत का ही साम्राज्य था। अतः दार्शनिक विभिन्न प्रस्थानों के आचार्यों के लिए भी प्राकृत का ज्ञान अपरिहार्य था।

मध्ययुगीय उथलपुथल के अनन्तर ईसवी उन्नीसवीं शती में पुनः जब संस्कृत विद्या का विश्वविद्यालयीय अध्ययन-अध्यापन का क्रम प्रवृत्त हुआ तब संस्कृतेतर प्राचीन भाषाओं के रूप में प्राकृत और पालि की ओर भी नए सिरे से ध्यानं गया और इन भाषाओं का भाषावैज्ञानिक महत्त्व का आकलन प्रारम्भ हुआ। पाश्चात्त्य:विद्वानों ने विशेष रूप से इन दो भाषाओं के वैदिकेतर संस्कृति के वाहन के रूपमें देखा और यह कहना अनुचित नहीं है कि प्रायः इसी दृष्टि के कारण संस्कृत और प्राकृत परस्पर-विच्छिन्न दो भाषिक के धारा का प्रतिनिधित्व करने लगी। प्राकृत के साथ संस्कृत का जो प्राचीन समर्थ्य-समर्थकभाव संवन्ध था वह फिर बन नहीं पाया।

फिर भी, अनुसंधान के फलस्वरूप विद्वानों ने यह भी अनुभव किया कि मूल में एक ही ऐतिह्य का उत्तरदायित्व इन दोनों भाषाओं ने निभाया है, भले ही इसका एक विशेष स्वरूप स्वतन्त्ररूप से जैनधर्म से संबद्ध क्यों न हो गया हो। इसी के फलस्वरूप संस्कृतभाषा के अध्ययन के लिए प्राकृत और पालि दोनों के ज्ञान की उपयोगिता स्वीकृत हुई और दोनों भाषाओं ने संस्कृत के पाठ्यक्रम में स्थान ले लिया। विदेशी विद्वानों के साथ-साथ भारतीय विद्वान

भी प्राकृत तथा पालि भाषा के लिए पाठ्यग्रन्थों के निर्माण में प्रवृत्त हुए। उसी प्रवृत्ति का एक स्तुत्य परिणाम डा० कोमलचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित यह 'प्राकृत-प्रवेशिका' है।

संस्कृत के परिपूरक स्वरूप से अतिरिक्त प्राकृत का स्वतन्त्र विकास भी प्राचीन भारत में हुआ था। गाथाओं की एक सुप्राचीन और सुपुष्ट परम्परा के अतिरिक्त प्राकृत में महाकाव्य और नाट्यकृतियाँ भी रची गईं। जीवन के अधिक समीपवर्ती होने के कारण मानवजीवन के स्वाभाविक आशानैराश्य का अत्यन्त ही वास्तविक एवं हृदयस्पर्शी रूप इन प्राकृत रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं। शृङ्गार के अनन्त लौकिक स्वरूप प्राकृत में जितनी समृद्ध मात्रा में उपलब्ध होते हैं उतना अन्यत्र दुर्लभ हैं। साथ ही देशभेद के कारण महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी आदि रूपों में प्राकृत का स्वरूप अपने में एक विशेष महत्त्व रखता है। इसी के साथ जैन-प्राकृत की भी स्पष्टतः पृथक् धाराएँ उपलब्ध होती हैं।

डा० जैन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राकृत भाषा के इन सभी रूपरूपान्तरों का समुचित संकलन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतः यह ग्रन्थ प्रारम्भिक दशा (प्रथम शती ई०) से लेकर बीसवीं शती ई० तक के प्राकृत भाषा के विकास के चरणों को प्रस्तुत करता है। साहित्य की विभिन्न विधाओं का प्रतिनिधित्व करने वाला यह ग्रन्थ इस दृष्टि से शोधोचित गाम्भीर्य के साथ प्राकृत के विकास की पूर्णता को उपस्थित करता है। इसीके साथ प्राकृत के व्याकरण संबन्धी सामान्य नियम तथा भेदोपभेदों की विलक्षणता का प्रतिपादन कर विद्वान् सम्पादक ने इस ग्रन्थ को प्राकृतभाषा के जिज्ञासुओं के लिए नितान्त उपयोगी बना दिया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का यह तृतीय संस्करण है। इसीसे यह स्पष्ट है कि विद्या के क्षेत्र में 'प्राकृत-प्रवेशिका' ने समादृत स्थान प्राप्त कर लिया है। हम इस अवसर पर यही कामना करते हैं कि इसका अधिकाधिक उपयोग हो और प्राकृत स्रोतों से ही प्राकृत का परिचय प्राप्त कर भारतीविद्या के विद्यार्थी प्राचीन भारतीय साहित्य के यथार्थ पारखी वनें।

पाठ्यग्रन्थ की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले इस सुनियोजित ग्रन्थ के लिए हम विद्वान् सम्पादक का साधुवाद करते हैं।

२३, उपेन्द्रनगर कालोनी
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी–५
दिनांक १०.५.७९

विश्वनाथ भट्टाचार्य

भूमिका

संस्कृत-साहित्य के ज्ञान के लिए प्राकृत का मौलिक ज्ञान होना आवश्यक है। कारण, संस्कृत के साथ प्राकृत का चोली-दामन सा सम्बन्ध है। यही कारण है कि भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों के, जहाँ संस्कृत की एम० ए० कक्षाएँ हैं, पाठ्यक्रमों में प्राकृत को आंशिक रूप से स्थान दिया गया है। वास्तविकता यह है कि प्राकृत के मौलिक ज्ञान के बिना संस्कृत-साहित्य का आनन्द एवं ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में हमें दो मत दिखलाई पड़ते हैं। प्रथम मत के अनुसार **'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'** या **'प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्'** अर्थात् स्वभाव-सिद्ध या जन-साधारण की भाषा को प्राकृत कहते हैं। द्वितीय मत के अनुसार **प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्'** अर्थात् संस्कृत जिस भाषा की प्रकृति हो या जो भाषा संस्कृत भाषा से उत्पन्न हुई हो उसे प्राकृत कहते हैं। प्रथम व्युत्पत्ति ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से। प्रस्तुत पुस्तक संस्कृत छात्रों के लिए विशेष रूप से लिखी गई है। अतः इसमें द्वितीय व्युत्पत्ति को महत्त्व दिया गया है। इसमें संस्कृत-पदों को प्रकृति रूप में पहले लिया गया है। तत्पश्चात् उससे बनने वाले प्राकृत-पदों को दिया गया है। प्राकृत वैयाकरणों के भी दो सम्प्रदाय थे, प्रथम सम्प्रदाय के प्रमुख हेमचन्द्र थे तथा द्वितीय के वररुचि। प्रस्तुत पुस्तक में दोनों सम्प्रदायों का समन्वयात्मक ढंग प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में व्याकरण तथा द्वितीय भाग में प्रमुख प्राकृतों के विशिष्ट गद्यपद्यांशों का संकलन है।

प्रथम भाग में व्याकरण-सम्बन्धी मौलिक नियमों को सरल एवं आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। टिप्पणी में प्राचीन-परम्परा में रुचि रखने वाले छात्रों के लिए हेमचन्द्रकृत-प्राकृतव्याकरण एवं वररुचिकृत-प्राकृत प्रकाश से सूत्र (अर्थ सहित) दिये गये हैं। कहीं कहीं उपयोगी शब्दों को प्राथमिकता देने के लिए सूत्रोक्त शब्दों के क्रम का मूल में परिवर्तन करना पड़ा है। जहाँ कहीं हेमचन्द्र कृत संस्कृत-व्याकरण से पाणिनिकृत संस्कृत-व्याकरण में भिन्नता है, वहाँ पाणिनि सम्मत तथ्य को कोष्ठक में दिया है। जैसे प्रथमा विभक्ति एकवचन संस्कृत प्रत्यय—सि (सु) आदि।

द्वितीय भाग में ६ प्रमुख प्राकृतों के विशिष्ट अंशों का संकलन किया गया है। गद्यपद्यांशों को ऐतिहासिक दृष्टि से क्रमबद्ध किया गया है। इससे छात्र विभिन्न प्राकृतों की विभिन्नकालीन धाराओं को सहज में ही समझ सकेंगे। प्रत्येक प्राकृत के संकलन के पूर्व उसकी विशिष्टताएँ भी दी गयी हैं। तुलनात्मक रुचि की वृद्धि के लिए साथ में संस्कृतच्छाया एवं हिन्दी-अनुवाद भी दिया गया है। जहाँ कहीं मुझे व्याकरण से असम्मत पाठ मिले, वहाँ व्याकरणसम्मत पाठों को कोष्ठकों की सहायता से दिखाया है। संकलन करते समय मैंने इस बात में पूरी सर्तकता रखी है कि संकलित गद्य-पद्यांश सरल, आधुनिक एवं पठन-पाठन के योग्य हों।

प्रस्तुत संस्करण को पूर्व संस्करण की अपेक्षा अधिक उपयोगी बनाने का हर-सम्भव प्रयास किया गया है। फिर भी अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमा-याचना करता हूँ। मेरी विद्वान-पाठकों एवं छात्रों से प्रार्थना है कि यदि वे पुस्तक में किसी कमी का अनुभव करें तो कृपया मुझे सूचित कर दें ताकि अगले संस्करण में उन कमियों को पूरा किया जा सके। यदि यह संस्करण छात्रों को पहले संस्करण की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं प्रिय हो सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

अन्त में मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृत-पालि विभाग के संस्कृत प्राध्यापक डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य का आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य प्राक्कथन लिखकर इस संस्करण की शोभा बढ़ायी है। प्रकाशकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस संस्करण को समय पर प्रकाशित किया।

संस्कृत-पालि विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५
दिनांक २९.५.७९

कोमलचन्द्र जैन

भाग १—व्याकरण

पहला अध्याय

वर्ण-परिचय

१ स्वर[1]

ह्रस्व—अ इ उ ए[2] ओ[2]

दीर्घ—आ ई ऊ ए ओ

२ सरल व्यञ्जन[3]

क ख ग घ
च छ ज झ
ट ठ ड ढ ण

---

१. (क) अत्र ऋ, ॠ, लृ, ऐ औ इत्येतान् विहायापरे स्वरा विद्यन्ते।
—प्रा० व्या० पृ० १।

यहाँ (प्राकृत में) ऋ, ॠ, लृ, ऐ तथा औ—इनको छोड़कर शेष स्वर संस्कृत के समान पाये जाते हैं।

(ख) प्राकृत में ऐ विस्मय-सूचक शब्द के रूप में केवल कविता में कहीं-कहीं पाया जाता है। महाराष्ट्री तथा शौरसेनी में ऐ के स्थान पर अइ (अयि) का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।
—देखिए ८।१।१६९।हे०॥ तथा पि. प्रा. पारा नं. ६०।

(ग) प्राकृत में प्लुत स्वर नहीं होते हैं। —८।१।१। हे० की वृत्ति।

२. संयुक्त व्यञ्जन के पूर्ववर्ती एं तथा ओ ह्रस्व होते हैं। अतएव एक्कं (एकाम्), पेक्खन्ति (प्रेक्षन्ते), जोव्वणं (यौवनम्), आरोग्गं (आरोग्यम्) आदि शब्दों में स्थित ए तथा ओ ह्रस्व स्वर हैं। —तुलना कीजिए पि. प्रा. पारा नं. ८४।

३. (क) तेन..............ङ–ञ–श–ष–विसर्जनीय-प्लुतवर्ज्यो वर्णसमाम्नायो लोकाद् अवगन्तव्यः। —८।१।१। हे० की वृत्ति।

प्राकृत में ङ, ञ, श, ष तथा विसर्ग से रहित सरल व्यञ्जन समूह होता है।

(ख) तथा अस्वरं व्यञ्जनं.........न भवति। —८।१।१।हे० की वृत्ति।

प्राकृत में स्वर-रहित व्यञ्जन नहीं होता है।

त थ द ध न[1]
प फ ब भ म
य[2] र ल व
स ह
ँ अनुनासिक ं अनुस्वार

३ संयुक्त व्यञ्जन[3]

क्क	क्ख	ग्ग	ग्घ	ङ्क	ङ्ख	ङ्ग	ङ्घ	
च्च	च्छ	ज्ज	ज्झ	ञ्च	ञ्छ	ञ्ज	ञ्झ	
ट्ट	ट्ठ	ड्ड	ड्ढ	ण्ट	ण्ठ	ण्ड	ण्ढ	ण्ण
त्त	त्थ	द्द	द्ध	न्त	न्थ	न्द	न्ध	न्न
प्प	प्फ	ब्ब	ब्भ	म्प	म्फ	म्ब	म्भ	म्म
ल्ल	व्व	स्स						

---

१. अर्ध-मागधी तथा जैन-महाराष्ट्री में शब्द का प्रारम्भिक न तथा मध्यवर्ती न्न अपरिवर्तित रहता है। अतः कुछ वैयाकरण शब्द के प्रारम्भिक न को ण करने का नियम वैकल्पिक मानते हैं। —देखिए ८।१।२२९। हे०, २।१०७। क्रम०, २।४३ मा०, पि. प्रा. पारा नं. २१६।

२. प्राकृत में मूल य का अभाव है किन्तु शब्द के मध्यवर्ती सरल व्यञ्जन क, ग आदि के लुप्त हो जाने के बाद यदि अ या आ शेष रहता है तो लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर लघुप्रयत्नतर अर्थात् हल्की ध्वनि से उच्चारित य होता है। इसे य-श्रुति कहते हैं।—देखिए ८।१।१८०।हे०, पि. प्रा. पारा नं. १७९।

(क) प्राकृते भिन्नवर्गीयानां वर्णानां संयोगो न भवति। —प्रा० व्या० पृ० १। प्राकृत में भिन्नवर्गीय वर्णोंका संयोग नहीं होता है।

(ख) किन्तु ण्ह, म्ह, तथा ल्ह उक्त नियम के अपवाद हैं।—८।२।७४—७६।हे० ॥

(ग) प्राकृत में दो व्यञ्जनों के संयोग से बने संयुक्त व्यञ्जन दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत के तीन व्यञ्जनों के संयोग से बने संयुक्त व्यञ्जन को प्राकृत में बदलते समय, सबसे पहले निर्बलतम व्यञ्जन को निकाल दिया जाता है। तत्पश्चात् संयुक्त व्यञ्जन-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों के अनुसार उसमें परिवर्तन कर दिया जाता है। जैसे—मत्स्यः=मत्सो=मच्छो।

—देखिए पि. प्रा. पारा नं. ३३४।

(घ) ङ—ञौ स्ववर्ग्यसंपृक्तौ भवत एव। —८।१।१।हे० की वृत्ति।
ङ तथा ञ अपने वर्ग के व्यञ्जनों से संयुक्त होते हैं किन्तु द्वित्व ङ (ङ्ङ) तथा ञ (ञ्ञ) सामान्य प्राकृत में उपलब्ध नहीं होते हैं।

४. अन्य संयुक्त व्यञ्जन

ण्ह म्ह ल्ह द्र[1] ग्ह[1]

दूसरा अध्याय

स्वर-परिवर्तन

प्राकृत में सामान्यरूप से स्वर-परिवर्तन-सम्बन्धी निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं—

(१) ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण (३) स्वरों का लोप
(२) दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण (४) सम्प्रसारण

१. ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण

(१) ह्रस्व स्वर + ऊष्म + ऊष्म या अन्तःस्थ (ल को छोड़कर) = दीर्घ स्वर + स ।[2] दुश्शासनः = दूसासणो, निष्षिक्तः = नीसित्तो, पश्यति = पासइ, अश्वः = आसो ।

(२) ह्रस्व स्वर + र् + व्यञ्जन (विशेषतः ऊष्म वर्ण) = दीर्घ स्वर + व्यञ्जन ।[3] कर्तव्यम् = काअव्वं, स्पर्शः = फासो, वर्षः = वासो ।

(३) सानुस्वार ह्रस्व स्वर + र या ऊष्म = दीर्घ स्वर + र या ऊष्म ।[4] संरक्षणता = सारक्खणया, विंशतिः = वीसा, सिंहः = सीहो ।

---

१. उक्त संयुक्त व्यञ्जनों के अतिरिक्त द्र एवं ग्ह—ये दो संयुक्त व्यञ्जन भी अपवाद स्वरूप उपलब्ध होते है । —देखिये ८।२।१२०, १२४।हे०।।

२. (क) लुस-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ।।८।१।४३।हे०।।
शकार, षकार तथा सकार से पहले या बाद में मिले हुए य, र, व, श, ष तथा स का लोप होने पर शकार षकार या सकार के आदि स्वर को दीर्घ हो जाता है ।
(ख) देखिए पि. प्रा. पारा नं. ६२ ।

३. (क) र् के साथ दूसरा व्यञ्जन (विशेषत. श, ष, या स) मिलने पर उससे पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है तथा र् को हटाकर संयुक्त व्यञ्जन को सरल व्यञ्जन बना दिया जाता है ।—देखिए ८।१।४३।हे०।। ८।४।२१४। हे०।। एवं पि. प्रा. पारा नं० ६२ ।

४. (क) यदि कोई स्वर अनुस्वारवाला हो और उसके ठीक बाद ही र, श, ष, स

(४) अ स्वर युक्त उपसर्ग+शब्द=आ स्वर युक्त उपसर्ग+शब्द (विकल्प से)।[१] प्रकटम् = पाअडं, पअडं; समृद्धिः = सामिद्धी, समिद्धी।

(५) प्रथम पद का अन्तिम ह्रस्व स्वर=प्रथम पद का दीर्घ स्वर (बहुलता से)। सप्तविंशतिः=सत्तावीसा, अन्तर्वेदिः = अन्तावेई।[२]

२. दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण

(१) दीर्घ स्वर+संयुक्त व्यञ्जन=ह्रस्व स्वर+संयुक्त व्यञ्जन।[३] विरहाग्निः = विरहग्गी, मुनीन्द्रः = मुनिन्दो, चूर्णः = चुण्णो।

अपवाद

दीर्घ स्वर+र् या ऊष्म वर्ण युक्त संयुक्त व्यञ्जन=दीर्घ स्वर+सरल व्यञ्जन।[४] ईश्वरः = ईसरो, आस्यम् = आसं, पार्श्वम्=पासं, प्रेष्यः = पेसो।

. और ह हो तो कभी-कभी अनुस्वार का लोप एवं स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। —पि. प्रा. पारा नं. ७६।

(ख) देखिए ८।१।२८,९२।हे०।।, ८।२।१३९। हे० ।।

१. अतः समृद्धयादौ वा ।।८।१।४४।हे०।।

समृद्धि आदि शब्दों के आदि में स्थित अ को विकल्प से आ हो जाता है।

समृद्धि आदि शब्द :—

समृद्धिः प्रतिसिद्धिश्च प्रसिद्धिः प्रकटं तथा।

प्रसुप्तं च प्रतिस्पर्धी मनस्वी प्रतिपत्तथा।

अभियातिः सदृक्षं च समृद्धयादिरयं गणः ।। —१।३।मा० की वृत्ति।

(ख) प्राकृत में कभी-कभी उपसर्गों का पहला स्वर शब्दों के पहले जुड़ने पर दीर्घ कर दिया जाता है। —पि. प्रा पारा नं ७७।

२. दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ।।८।१।४।हे०।।

समस्त पद में प्रथम पद के अन्त में आने वाले दीर्घ स्वर को ह्रस्व तथा ह्रस्व स्वर को दीर्घ कहीं नित्य रूप से और कहीं विकल्प से होता है।

३. (क) ह्रस्वः संयोगे ।।८।१।८४। हे० ।।

दीर्घ स्वर के आगे यदि संयुक्त अक्षर हो तो दीर्घ स्वर को ह्रस्व स्वर हो जाता है।

(ख) देखिए पि. प्रा. पारा नं. ८३-८५।

४. (क) न दीर्घानुस्वारात् ।।८।२।९२।हे०।।

व्याकरण से सिद्ध तथा प्रकृति से प्राप्त दीर्घ स्वर तथा अनुस्वार के आगे संयुक्त व्यञ्जन को द्वित्व नहीं होता है।

(२) ए + संयुक्त व्यञ्जन = एँ या इ + संयुक्त व्यञ्जन ।[1] क्षेत्रम = खेँत्तं, नरेन्द्रः = नरिन्दो ।

(३) ओ + संयुक्त व्यञ्जन = ओँ या उ + संयुक्त व्यञ्जन ।[1] ओष्ठं = ओँट्ठं, नीलोत्पलम् = नीलुप्पलं ।

(४) दीर्घ स्वर + व्यञ्जन = ह्रस्व स्वर + व्यञ्जन का द्वित्व रूप ।[2] तैलम् = तेँल्लं, प्रेमन् = पेम्मं, मण्डूकः = मण्डुक्को, यौवनम् = जोँव्वणं ।

(५) प्रथम पद का अन्तिम दीर्घ स्वर = ह्रस्व स्वर (बहुलता से)। पइ + हरं = पई-हरं (पतिगृहम्), भुअ + यन्तं = भुआयन्तं (भुजयन्त्रम्) ।

३. स्वरों का लोप

(१) अपि = पि, वि; किमपि = किं पिं, तथापि = तह वि ।[3]

(ख) संयुक्त व्यञ्जन में से व्यञ्जन लोप के लिए देखिए --अध्याय ४ ।

(ग) मूल व्यञ्जन समूह से पहले यदि दीर्घ स्वर हो तो दो व्यञ्जनों में से एक शेष रह जाता है या वह व्यञ्जन इस स्थान पर आ जाता है जो ध्वनि-तत्त्व के अनुसार उसका प्रतिनिधि हो। यह बहुधा तब होता है जब दो व्यञ्जनों में से एक श, ष, स या र हो। —पि. प्रा. पारा न. ८७

१. संयुक्ताक्षरों के पूर्ववर्ती ए को एँ तथा ओ को ओँ हो जाता है। कभी-कभी ए को इ तथा ओ को उ हो जाता हैं। —पि. प्रा. पारा नं. ८४ ।

२. (क) तैलादौ ॥८।२।९८।है०॥
'तैलादि' शब्दों के अन्तिम या मध्यवर्ती व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है। तत्पश्चात् पृ० ४, उद्ध० २ के अनुसार प्रथम दीर्घ स्वर हो ह्रस्व हो जाता है।

(ख) ३।७१। मा० में तैलादि की जगह नीडादि आया है। 'नीड'-आदि शब्द इस प्रकार हैं—
नीडव्याहृतमण्डूकस्रोतांसि प्रेमयौवने ।
त्रैलोक्यस्थूलतैलर्जु स्थूणार्थस्थाणुमुख्यकाः ॥ —३।७१।मा० की वृत्ति ।

(ग) बहुधा यह भी देखने में आता है कि सरल व्यञ्जनों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर को ह्रस्व बना दिया जाता है और व्यञ्जन को द्वित्व कर दिया जाता है। —पि. प्रा. पारा नं. ९० ।

३. (क) पदादपेर्वा ॥८।१।४१। है०॥
पद के पश्चात् आने वाले अपि अव्यय के आदि स्वर का लोप हो जाता है।

(२) इति = ति, त्ति; किमिति = किं ति, तथेति = तह त्ति ।[1]
(३) इव = व, व्व; गृहमिव = गेहं व, पततीव = पडइ व्व ।[2]
इसी प्रकार अरण्यं = रण्णं, अलाबुम् = लाउं, असि = सि, अस्मि = म्हि ।[3]

४. सम्प्रसारण[4]

(१) य > इ, तिर्यक्षः = तिरिच्छो, व्यजनम् = विअणं ।
(२) व > उ, गवयः = गउओ, त्वरितम् = तुरिअं ।
(३) अय > ए, कथयति = कहेइ, स्थापयति = ठवेइ ।
(४) अव > ओ, अवसारः = ओसारो, लवणम् = लोणं ।

५. ऋ (ॠ), लृ, ऐ तथा औ के परिवर्तन

प्राकृत में ऋ (ॠ), लृ, ऐ एवं औ—ये पाँच स्वर निम्नलिखित रूपों में बदल जाते हैं—

५.१ ऋ (ॠ) के परिवर्तन

ऋ सामान्यरूप से अ, उ, इ तथा रि में बदल जाता है ।
(१) ऋ > अ, घृतम् = घयं, तृणम् = तणं, मृगः = मओ ।[5]

(ख) ध्वनि-बल की हीनता के प्रभाव से अव्यय (जो अपने से पहले वर्ण को ध्वनि युक्त कर देते हैं) बहुधा आरम्भ के स्वर का लोप कर देते हैं । जब ये शब्द उक्त अव्यय रूप में नहीं आते तो आरम्भिक स्वर बना रहता है । इस नियम के अनुसार अनुस्वार के बाद आने पर अपि का पि एवं स्वर के बाद आने पर अपि का वि रूप हो जाता है । —पि. प्रा. पारा नं. १३५ ।

१. इतेः स्वरात् तश्च द्विः ॥८।१।४२।हे०॥
पद के पश्चात् आने वाले इति शब्द के इ का लोप हो जाता है तथा स्वर से परे अवशिष्ट ति के तकार को द्वित्व हो जाता है ।

२. अपि तथा इति के समान ही सामान्यतया पद के बाद इव के इ का लोप हो जाता है तथा स्वर से परे व को द्वित्व हो जाता है ।
—तुलना कीजिये पि. प्रा. पारा नं. ९२,१३५ ।

३. (क) देखिये ८।१।६६।हे०॥ तथा ८।३।१४६–१४७।हे०॥
(ख) देखिये पि. प्रा. पारा नं. १३४, १३७ ।

४. प्राकृत में सम्प्रसारण ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार संस्कृत में ।
—देखिये पि. प्रा. पारा नं. १४२–१४६ ।

५. (क) ऋतोऽद्भवेत् ॥१।३३।मा०॥
आदि ऋकार को अकार हो जाता है ।
(ख) पि. प्रा. पारा नं. ४९ ।

(२) ऋ>इ, ऋषिः=इसी, कृतिः=किई, मातृ-गृहम्=माइ-हरं, मातॄणाम्=माइणं ।[1]

(३) ऋ>उ, ऋतुः=उऊ, प्रावृट्=पाउसो, प्रवृत्तिः = पउत्ती, मृदङ्गः = मुइङ्गो ।[2]

(४) ऋ>रि, ऋद्धिः = रिद्धी, ऋक्षः = रिच्छो, सदृक् = सरि, सदृक्षः = सरिसो ।[3]

---

१. (क) इदृष्यादौ ॥१।३४। मा०॥
ऋषि आदि शब्दों के ऋकार को इकार हो जाता है ।

(ख) ऋषि आदि शब्द—
ऋषिः कृपा कृतिः कृत्या कृपाणः कृपणो वृषः ।
शृगालः पृथुलो गृध्रो मृगाङ्को मसृणं कृषिः ॥
शृङ्गारभृङ्गभृङ्गारवृष्टिवृंहितवृश्चिकाः ।
वितृष्णो हृदयं गृष्टिः सृष्टिर्दृष्टिस्तथापरे ॥—१।.४।मा० की वृत्ति ।

(ग) मातुरिद्वा । क्वचिदगौणस्यापि ॥८।१।१३५।हे० तथा उसकी वृत्ति ॥
गौण मातृ शब्द के ऋकार को विकल्प से इकार हो जाता है । कहीं-कहीं अगौण मातृपद के ऋकार को भी इकार हो जाता है ।

२. (क) उदृत्वादौ ॥१।३५।मा०॥
ऋतु आदि शब्दों के ऋकार को उकार हो जाता ।

(ख) ऋतु आदि शब्द—
ऋतुर्मृदङ्गो निभृतं वृतं परभृतो मृतः ।
प्रावृड्वृती तथा वृत्तवृत्तिभ्रातृकमातृका ।
मृणालपृथिवीवृन्दावन जामातृकादयः ॥ —१।३५।मा० की वृत्ति ।

(ग) ओष्ठ्य वर्णों के बाद ऋकार या ॠकार के बाद उकार आने पर ऋकार को उकार हो जाता है । —देखिए पि. प्रा. पारा नं. ५१ ।

३. (क) रिः केवलस्य । ऋणर्ज्वृषभर्त्वृषौ वा ॥८।१।१४०—१४१।हे०॥
शब्द में स्थित केवल या स्वतन्त्र ऋकार को रिकार हो जाता है किन्तु ऋण, ऋजु, ऋषभ, ऋतु एवं ऋषि—शब्दों के ऋकार को विकल्प से रि होता है ।

(ख) दृशः क्विप्-टक्सकः ॥८।१।१४२।हे०॥
क्विप् टक् एवं सक्—इन कृत्-प्रत्ययों से युक्त दृश् धातु के ऋकार को रिकार हो जाता है ।

५.२ ऌ के परिवर्तन

ऌ सामान्य रूप से लि एवं इलि में बदल जाता है।[1]

(१) ऌ>लि, ऌकारः = लिआरो।

(२) ऌ>इलि, क्लृप्तम् = किलित्तं, क्लृन्नम् = किलिन्नं।

५.३ ऐ के परिवर्तन

ऐ सामान्य रूप से ए एवं अइ के रूप में बदल जाता है।

(१) ऐ>ए, शैलः = सेलो ऐरावणः = एरावणो।[2]

(२) ऐ>अइ, दैत्यः = दइच्चो, वैसाखः = वइसाहो।[3]

५.४ औ के परिवर्तन

औ सामान्यरूप से ओ, उ तथा अउ में बदल जाता है।

(१) औ> ओ, कौमुदी = कोमुई कौशिकः = कोसिओ।[4]

(२) औ>उ, दौवारिकः = दुवारिओ, सौवर्णिकम् = सुवण्णिओ।[5]

(३) औ>अउ, पौरः = पउरो, कौरवः = कउरवो।[6]

---

१. (क) ऌ जब स्वतन्त्र अर्थात् किसी व्यञ्जन की मिलावट के बिना आता है तब उसे लि हो जाता है। —देखिए पि. प्रा. पारा नं. ५९।

(ख) ऌतः इलिः क्लृप्त-क्लृन्ने ।।८।१।१४५।हे० ।।

क्लृप्त तथा क्लृन्न शब्दों के ऌकार को इलि आदेश हो जाता है।

२. ऐत एत् ।।८।१।१४७।हे०।।

शब्द के आदिवर्ती ऐकार को सामान्यतया ए हो जाता है।

३. (क) अइर्दैत्यादौ च ।।८।१।१५१।हे०।।

सैन्य एवं दैत्यादि शब्दों के ऐ को अइ हो जाता है।

(ख) दैत्य आदि शब्द—

दैत्यवैदेहवैदेशवैशम्पायनकैतवम्।

स्वैरवैशाखचैत्यादिरेष दैत्यादिको गणः ।। —१।४३ मा० की वृत्ति।

४. औत ओत् ।।८।१।१५९।हे०।।

शब्द के आदिवर्ती औ को ओ हो जाता है।

५. (क) उत्सौन्दर्यादौ ।।८।१।१६०।हे०।।

सौन्दर्य आदि शब्दों में स्थित औ को उ हो जाता है।

(ख) सौन्दर्य आदि शब्द—

सौन्दर्य शौणिकः शौण्डो दौवारिकोपविष्टके।

कौक्षेयपौषपौलोमी मौञ्जिदौः साधिकादयः ।। —१।५२।मा० की वृत्ति।

६. (क) अउ पौरादौ च ।।८।१।१६२।हे०।।

पौर आदि शब्दों के औ को अउ आदेश हो जाता है।

(ख) पौर आदि शब्द—

पौरः कौरवपौरुषपौत्रौचित्यानि कौशलं क्षौरम्। —१।४९। मा० की वृत्ति।

तीसरा अध्याय

सरल व्यञ्जन-परिवर्तन

१. प्रारम्भिक

सामान्यरूप से न, य, श तथा ष को छोड़कर शेष व्यञ्जन अपरिवर्तित रहते हैं। न, य, श तथा ष को निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं—

(१) न>ण, न; नरः = णरो, नरो; नदी = णई, नई।[1]

(२) य>ज, यशः = जसो, यतिः = जई।[2]

(३) श>स, शब्दः = सद्दो, श्यामा = सामा।[3]

(४) ष>स षण्ढः = सण्ढो, षड्जः = सज्जो।[3]

२. मध्यवर्ती

सामान्यरूप से ढ, ण, म, र, ल, स तथा ह इन सात व्यञ्जनों में परिवर्तन नहीं होता है। शेष व्यञ्जनों के निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं—

क, ग,	>लोप, लोकः = लोओ, भगिनी = भइणी,
च, ज,	वचनम् = वयणं गजः = गओ,
त, द,	लता = लया, यदि = जइ,
प,	रिपुः = रिऊ,
य, व,	वायुना = वाउणा, लावण्यम् = लायण्णं।[4]

---

१. (क) वादौ ॥८।१।२२९।हे०॥

शब्द के आदि में स्थित न को विकल्प से ण हो जाता है।

(ख) अत्र वररुचिहेमचन्द्रयोर्महदन्तरं दृश्यते, यथा प्राकृतप्रकाशे "नो णः सर्वत्र" (२।४२।वर०) इति सूत्रं दृश्यते, तस्य वृत्तिस्तु सर्वत्र आदौ अनादौ वा नकारस्य णकारो भवति। —प्रा० व्या० पृ० ४८।

यहाँ वररुचि और हेमचन्द्र के बीच भारी मतभेद पाया जाता है। जैसे प्राकृत-प्रकाश में "नो ण सर्वत्र" सूत्र की वृत्ति के अनुसार आदि एव अनादि —दोनों प्रकार के नकार को णकार हो जाता है।

२. आदेर्यो जः ॥८।१।२४५।हे०॥ शब्दः के आदि में स्थित य को ज हो जाता है।

३. श-षोः सः ॥८।१।२६०।हे० ॥ श एवं ष को स हो जाता है।

४. (क) क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥८।१।१७७।हे०॥

स्वर से परे अनादिभूत तथा असंयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य, व—इन व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाता है।

ख, घ | >ह, मेखला=मेहला, जघनम्=जहणं,
थ, ध | अनाथः=अणाहो, बधिरः=बहिरो,
फ, भ | मुक्ताफलम्=मुक्ताहलं सभा=सहा।[१]

ट>ड, भट=भडो, घटः=घडो।[२]
ठ>ढ, कमठ-=कमढो, पठति=पढइ।[२]
ड>ल, तडागम्=तलायं, गरुडः=गरुलो।[२]
न>ण, वदनम्=वयणं, वनम्=वणं।[२]
फ>भ, रेफः=रेभो, सफलम्=सभलं, सहलं।[३]
ब>व, कबरी=कवरी, शिबिका=सिविया।
श>स, देशः=देसो, वंशः=वंसो।[४]
ष>स, कषायः=कसाओ, पुरुषः=पुरिसो।[४]

२.१ विशेष

(१) समस्त पद में द्वितीय पद के प्रारम्भिक व्यञ्जन को प्रारम्भिक एवं मध्यवर्ती—दोनों रूपों में माना जाता है, जैसे—सुखकरः=सुहकरो, सुहयरो; जलचरः=जलचरो, जलयरो।[५]

(२) उपसर्गयुक्त पद के अनादि य को कहीं प्रारम्भिक एवं कहीं मध्यवर्ती

(ख) लुप्त व्यञ्जन के बाद में यदि अ या आ शेष रहे तो लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर य-श्रुति होती है।—देखिए पृ०२, उद्ध० २।

(ग) नावर्णात्पः ॥८।१।१७९।हे०॥, पो वः ॥८।१।२३१। हे० ॥
अवर्ण से परे अनादि प का लोप नहीं होता है, अपितु उसके स्थान पर व हो जाता है। जैसे—शपथः=सवहो, कश्यप=कासवो।

१. ख-घ-थ-ध-भाम् ॥८।१।१८७।हे०॥
स्वर से परे असंयुक्त अनादि ख, घ, थ, ध, तथा भ को ह हो जाता है।

२. टो डः, ठो ढः, डो लः, नो णः, बो वः ॥८।१।१९५, १९९, २०२, २२८, २३७। हे० ॥ (क्रमशः)
स्वर से परे असंयुक्त अनादि ट, ठ, ड, न तथा ब को क्रमशः ड, ढ, ल, ण तथा व हो जाता है।

३. फो भ-हौ ॥८।१।२३६।हे०॥
स्वर से परे असंयुक्त अनादि फ को भ एवं ह हो जाता है।

४. देखिये पृ० ९, उद्ध० ३।

५. समासे तु वाक्यविभक्त्यपेक्षया भिन्नपदत्वमपि विवक्ष्यते। तेन तत्र यथादर्शनम् उभयमपि भवति ॥८।१।१७७। हे० की वृत्ति ॥

माना जाता है, जैसे—संयमः=संजमो, अपयशः = अवजसो, प्रयोगः =पओओ ।[1]

(३) कभी-कभी अव्ययों के प्रारम्भिक व्यञ्जनों के साथ मध्यवर्ती व्यञ्जनों की तरह व्यवहार किया जाता है, जैसे—अपि च=अवि अ, स च= सो अ, स पुनः=स उण ।[2]

३. अन्तिम

प्राकृत में हलन्त पद नहीं होते हैं। अतः अन्तिम व्यञ्जन निम्नलिखित रूपों में बदल जाते हैं—

(१) अन्तिम व्यञ्जन>लोप, देवात्=देवा, पश्चात् = पच्छा ।[3]

(२) " " >अनुस्वार, साक्षात्=सक्खं, यत्=जं ।[4]

(३) " " >स्वरयुक्त व्यञ्जन, शरद्=सरओ, भिषक्= भिसओ, सरित्=सरिआ ।[5]

४. विसर्ग के परिवर्तन

(१) अः>ओ, नरः=णरो, यशः=जसो ।[6]

(२) इः>ई, मुनिः = मुणी, गिरिः=गिरी ।[7]

(३) उः=ऊ, तरुः = तरू गुरुः = गुरू ।[7]

---

१. बहुलाधिकरात् सोपसर्गस्यानादेरपि ॥८।१।२४५। हे० को वृत्ति ॥

२. क्वचिदादेरपि ।८।१।१७७। हे० की वृत्ति ॥

३. अन्त्यव्यंजनस्य ॥८।१।११। हे०॥
शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है ।

४. बहुलाधिकाराद् अन्यस्यापि व्यञ्जनस्य मकारः ॥८।१।२४। हे० की वृत्ति ॥

५. (क) स्त्रियामादविद्युतः ॥८।१।१५। हे० ॥
विद्युत् शब्द को छोड़कर शेष हलन्त स्त्रीलिङ्ग शब्द के अन्तिम व्यञ्जन को आत्व हो जाता है ।

(ख) शरदादेरत् ॥८।१।१८। हे० ॥
शरद् आदि शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन को अत्व हो जाता है ।

६. अतः सेर्डोः ॥८।३।२। हे० ॥
प्रथमा विभक्त के एक वचन में सि (सु) को डो हो जाता है ।

७. अक्लीबे सौ ॥८।३।१९। हे० ॥
नपुंसकलिङ्ग शब्दों को छोड़कर इकारान्त एव उकारान्त शब्दों के सि (सु) (प्रथमा विभक्ति, एक वचन) प्रत्यय का लोप हो जाता है तथा इ और उ को दीर्घ हो जाता है ।

(४) स्वर (अ, इ, उ को छोड़कर)=स्वर, रामाः=रामा, अलाबूः= अलाबू ।[1]

चौथा अध्याय

संयुक्तव्यञ्जन-परिवर्तन

प्राकृत में समानवर्गीय व्यञ्जनों के मेल से बने संयुक्त व्यञ्जन ही सामान्यतया उपलब्ध होते हैं।[2] अतः विभिन्नवर्गीय संयुक्त व्यञ्जनों को प्राकृत में बदलते समय या तो उन्हें समानवर्गीय बना लिया जाता है, या फिर उन्हें किसी स्वर से विभक्त कर सरल व्यञ्जनों में बदल दिया जाता है। अतः संयुक्त व्यञ्जनों के परिवर्तन के लिए निम्नलिखित दो विधियों में से किसी एक का उपयोग किया जाता है।[3]

(१) समानीकरण (२) स्वरभक्ति

१. समानीकरण

विभिन्नवर्गीय दो व्यञ्जनों के मेल से बने संयुक्त व्यञ्जन में से एक का लोप कर दिया जाता है तथा अवशिष्ट द्वितीय व्यञ्जन को अनादि होने पर द्वित्व कर दिया जाता है। यदि अवशिष्ट अनादि व्यञ्जन हकारयुक्त (ख, घ, छ, झ आदि) हो तो उसे द्वित्व करने के पश्चात् प्रथम हकारयुक्त व्यञ्जन का हकार समाप्त कर दिया जाता है।[4]

---

१. प्राकृत में जस् एवं शस् का लोप होने से, भिस् एवं भ्यस् के स्थान पर हि, हिं हिँ तथा त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो, सुन्तो, आदेश होने से और द्विवचन न होने से अ, इ, उ इन तीन स्वरों के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद विसर्ग का अभाव स्वतः सिद्ध है।—देखिए ८।३।४,९, १३१ आदि। हे० ॥

२. विभिन्न वर्गीयव्यञ्जन के मेल से बने संयुक्त-व्यजनों में से ण्ह, म्ह, ल्ह, व्ह या व्यञ्जन+र ही प्राकृत में पाये जाते हैं। —देखिए पृ० २, उद्ध० २ (ख)।

३. Consequently most compound consonants are either assimilated or separated by a svara-bhakti vowel. —I. P., p. 17 (32)

४. (क) अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम् ॥८।२।८९।हे०॥

यदि शेष अथवा आदेश रूप से वर्ण शब्द के मध्य में हो तो उसे द्वित्व हो जाता है।

(ख) द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः ॥८।२।९०।हे०॥

यदि वर्ग के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण को द्वित्व होने का प्रसङ्ग हो तो द्वित्व रूप से क्रमशः प्रथम तथा तृतीय वर्ण होते हैं।

दो व्यञ्जनों के संयुक्त व्यञ्जन में से किस (व्यञ्जन) का लोप किया जाय तथा किसे द्वित्व किया जाय—इसकी व्यवस्था व्यञ्जनों के बलाबल की दृष्टि से होती है। समान बलवाले व्यञ्जनों में से प्रथम-व्यञ्जन का लोप तथा अवशिष्ट द्वितीय-व्यञ्जन को द्वित्व कर दिया जाता है जब कि असमान बलवाले व्यञ्जनों में से हीन बलवाले व्यञ्जन का लोप एवं अवशिष्ट अधिक बलवाले व्यञ्जन को द्वित्व कर दिया जाता है। बल की दृष्टि से व्यञ्जनों का क्रम निम्नलिखित है[1]—

(क) वर्ग के प्रथम चार वर्ण (सर्वाधिक बलशाली)

(ख) अनुनासिक वर्ण (पूर्वोक्त वर्णों से निर्बल)

(ग) ल, स, व, य, र, (निर्बलतम तथा आपस में क्रमशः निर्बलतर)

१.१ प्रारम्भिक

(१) शब्द के प्रारम्भ में (अवशिष्ट व्यञ्जन को द्वित्व न होने से) संयुक्त व्यञ्जन नहीं पाये जाते हैं।[2] क्षत्रियः = खत्तियो, ब्राह्मणः = बम्हणो, ध्वजः = धओ, त्यागी = चाई।

(२) किन्तु उक्त नियम के निम्न अपवाद हैं—

(क) शब्द के प्रारम्भ में ण्ह, म्ह, ल्ह तथा व्यञ्जन + र—ये संयुक्त व्यञ्जन पाये जाते हैं,[3] जैसे—स्नानम् = ण्हाणं, स्मः = म्हो, ह्लसति = ल्हसइ, ह्रदः = द्रहो।

(ख) समस्त पद में द्वितीय पद के प्रारम्भ में संयुक्त व्यञ्जन विकल्प से पाये जाते हैं।[4] जैसे—नदीग्रामः = नइग्गामो, नइगामो; देवस्तुतिः = देवत्थुई, देवथुई।

(ग) नाना वर्गों के संयुक्त-व्यञ्जनों की शेष ध्वनि में से पहला व्यञ्जन लुप्त हो जाता है और दूसरे व्यञ्जन का रूप धारण कर उसमें मिल जाता है। किन्तु हकार-युक्त वर्ण अपने वर्ग के अपने से पहले अक्षर को अपने में मिला लेते हैं। इसलिए वे अपना रूप इस प्रकार बना लेते हैं—क्ख, ग्घ, च्छ, ज्झ, ट्ठ, ड्ढ, त्थ, द्ध, प्फ तथा ब्भ।
—पि० प्रा० पारा न० २७० तथा १८५।

१. I. P., p. 17 (33).

२. कारण, शब्द के आदि में स्थित शेष या आदेश रूप वर्ण को द्वित्व नहीं होता है—देखिए पृ० १५, उद्ध० ४ (क)।

३. देखिए ८।२।७४—७६ तथा ८०। हे० ॥

४. समासे वा ॥८।२।९७। हे० ॥
समस्त-पद में द्वितीय पद के प्रारम्भ में स्थित शेष या आदेश रूप वर्णों को विकल्प से द्वित्व होता है।

१.२ मध्यवर्ती[1]

(विशेष—१.२ में व्यञ्जन पद से वर्ग के प्रथम चार वर्ण एवं अनुनासिक पद से वर्ग के अन्तिम वर्ण अभिप्रेत हैं।)

(१) व्यञ्जन + व्यञ्जन = प्रथम व्यञ्जन का लोप + द्वितीय व्यञ्जन को द्वित्व। उत्पलम् = उप्पलं, शब्दः = सद्दो, प्राग्भारः = पब्भारो, उद्‌घातम् = उग्घातं।

अपवाद—व्यञ्जन + व्यञ्जन = प्रथम व्यञ्जन को द्वित्व + द्वितीय व्यञ्जन का लोप।[2] जैसे—शक्तः = सक्को, मुक्तः = मुक्को।

(२) व्यञ्जन + अनुनासिक = व्यञ्जन को द्वित्व + अनुनासिक का लोप। अग्निः = अग्गी, युग्मम् = जुग्गं, नग्नः = नग्गो।

(३) (क) व्यञ्जन + अन्तःस्थ = व्यञ्जन को द्वित्व + अन्तःस्थ का लोप। शक्यः = सक्को, उग्रः = उग्गो, विप्लवः = विप्पवो, पक्वः = पक्को, चत्वारि = चत्तारि, ऊर्ध्वम् = उद्धं।

(ख) दन्त्य वर्ण + व = तालव्य वर्ण का आदेश एवं द्वित्व।[3] अत्यन्तम् = अच्चन्तं, नेपथ्यम् = णेवच्छं, अद्य = अज्ज, मध्यम् = मज्झं।

(ग) दन्त्य वर्ण + व = तालव्य वर्ण का आदेश (कहीं कहीं) एवं द्वित्व,[4] चत्वरम् = चच्चरं, पृथ्वी = पिच्छी, विद्वान् = विज्जं, बुद्ध्वा = बुज्झा।

---

१. शब्द के मध्यवर्ती संयुक्त-व्यञ्जनों का समानीकरण सामान्यतया समानीकरण की विधि (पृ० १२-१३) के अनुसार ही होता है। जहाँ पर जो विशेषता होगी, वहाँ उसे ही टिप्पणी के रूप में स्पष्ट किया जायगा।

२. शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा ॥८।२।२। हे० ॥
सूत्रोक्त शब्दों के संयुक्त-व्यञ्जनों को विकल्प से क होता है।

३. (क) त्यथ्यद्यां चछजाः ॥३।२७। वर० ॥
त्य, थ्य तथा द्य को क्रमशः च छ, तथा ज हो जाता है।

(ख ध्यह्योर्झः ॥३।२८। वर० ॥
ध्य तथा ह्य का झ होता है।

(ग) दन्त्य-वर्णों के साथ य् तब मिलता है जब वह पहले अपने से पहले आनेवाले दन्त्य वर्ण को तालव्य बना देता है।— देखिए पि० प्रा० पारा नं० २८०।

४. त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित् ॥८।२।१५। हे० ॥
कहीं-कहीं त्व, थ्व, द्व तथा ध्व को क्रमशः च, छ, ज तथा झ हो जाता है।

(४) व्यञ्जन + ऊष्म (श, ष, स)
=छ का आदेश एवं द्वित्व।[१] अप्सरा=अच्छरा, मक्षिका=मच्छिआ, उत्साहः=उच्छाहो।
=ख का आदेश एवं द्वित्व।[१] शिक्षा = सिक्खा, मक्षिका = मक्खिआ, भिक्षा=भिक्खा।
=झ का आदेश एवं द्वित्व।[१] प्रक्षीणं=पज्झीणं, क्षीयते=झिज्जइ।
अपवाद—
=स्स, उत्सवः=उस्सवो, उच्छ्वासः=उस्सासो।[२]

(५) अनुनासिक + व्यञ्जन=अनुस्वार + व्यञ्जन या व्यञ्जन के वर्ग का अनुनासिक वर्ण + व्यञ्जन।[३] पङ्कः=पंको; पङ्को लाञ्छनम्=लंछणं, लञ्छणं; षण्ढः=संढो, सण्ढो; चन्द्रः=चंदो, चन्दो।

(६) अनुनासिक + अनुनासिक
(क) ङ्म, ण्म=अनुस्वार + म, पराङ्मुखः=परंमुहो, दिङ्मुखः = दिंमुहो, षण्मुखः=छंमुहो।[४]
(ख) न्म=म्म, उन्मुखः=उम्मुहो, जन्म=जम्मं।[५]
(ग) म्न=ण्ण, निम्नगा=णिण्णआ, प्रद्युम्नः=पज्जुण्णो।[६]

(७) अनुनासिक + अन्तःस्थ=अनुनासिक वर्ण को द्वित्व + अन्तःस्थ का

---

१. (क) क्षः खः कचित्तु छझौ ॥८।२।३। हे० ॥
क्ष का ख होता है पर कहीं-कहीं छ तथा झ भी होते हैं।
(ख) ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ॥८।२।२१। हे० ॥
ह्रस्व-स्वर से परे थ्य, श्च, त्स तथा प्स को छ होता है किन्तु निश्चल शब्द के श्च को नहीं होता है।

२. यदि समस्त-पद में प्रथम पद के अन्त में त् हो तथा द्वितीय वद के आदि में श या स हो तो वहाँ त्स या त्श को स्स हो जाता है।-- देखिए पि० प्रा० पारा नं०३२७ अ।

३. वर्गेन्त्यो वा ॥८।१।३०।हे०॥ वर्ग के वर्ण परे रहते अनुस्वार को उसी वर्ग का अन्तिम वर्ण विकल्प से हो जाता है।

४. ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥८।१।२५।हे०॥
ङ, ञ, ण तथा न को व्यञ्जन परे रहते अनुस्वार होता है।

५. न्मो मः ॥८।२।६१।हे०॥
न्म को म हो जाता है।

६. म्नज्ञोर्णः ॥८।२।४ ।हे०॥
म्न तथा ज्ञ को ण आदेश होता है।

लोप। हिरण्यं=हिरण्णं, मन्ये=मण्णे, अन्वेषणम्=अण्णेसणं, कन्या=कण्णा।

(८) अनुनासिक+ऊष्म (श, ष, स, ह)=अनुस्वार+स। सम्+शुद्धिः=संसुद्धी, संहारः=संहारो, भ्रंशः=भंसो।

(९) (क) अन्तःस्थ+व्यञ्जन=अन्तःस्थ का लोप+व्यञ्जन को द्वित्व। मूर्खः=मुक्खो, अर्कः=अक्को, विकल्पः=विअप्पो, अल्पम्=अप्पं।

(ख) र+दन्त्य वर्ण=मूर्धन्य वर्ण का आदेश एवं द्वित्व।[1] चक्रवर्ती=चक्कवट्टी, अर्थः=अट्ठो, गर्दभः=गड्डहो, अर्धम्=अड्ढं।

(१०) अन्तःस्थ+अनुनासिक=अन्तःस्थ का लोप+अनुनासिक को द्वित्व। सौवर्णिकः=सुवण्णिओ, कल्मषम्=कम्मसं, कर्णः=कण्णो।

(११) अन्तःस्थ+अन्तःस्थ=निर्बल अन्तःस्थ का लोप+सबल अन्तःस्थ को द्वित्व। दुर्लभः=दुल्लहो, सर्वः=सव्वो, काव्यम्=कव्वं, आर्य! =अज्ज, शल्यम्=सल्लं।

(१२) अन्तःस्थ+स, ष, श=अन्तःस्थ का लोप+स को द्वित्व। वर्षति=वस्सदि, हर्षणम्=हस्सणं।

(१३) ऊष्म (श, ष, स)+व्यञ्जन (वर्ग का प्रथम वर्ण)=ऊष्म का

---

१. (क) र्तस्याधूर्तादौ ॥८।३०।हे०॥

धूर्त आदि शब्दों को छोड़कर अन्य शब्दों में स्थित र्त को ट होता है। धूर्त आदि शब्द—

धूर्तकीर्तिसंवर्तिवार्ताकार्तिकमूर्तयः।
कर्तरीकीर्तनावर्तिवर्तमानमुहूर्तकाः।
निर्वर्त्योद्वर्त्यमूर्ताश्च कर्तृभर्तृमुखास्तथा॥ —३।२७।मा० की वृत्ति।

(ख) स्त्यान-चतुर्थार्थे वा ॥८।२।३३। हे०॥

स्त्यान, चतुर्थ एवं अर्थ शब्दों के संयुक्त-व्यञ्जनों को विकल्प से ठ हो जाता है।

(ग) गर्दभादौ र्दः ॥३।३०।मा०॥

गर्दभ आदि शब्दों के र्द का ड हो जाता है। गर्दभ आदि शब्द—

गर्दभसंमर्दौ विच्छर्दिवितर्दी कपर्दविच्छर्दौ॥ —३।३०।भा० की वृत्ति॥

(घ) श्रद्धर्द्धि-मूर्धार्धेन्ते वा ॥८।२।४१।हे० ॥

सूत्रोक्त शब्दों के संयुक्त-अक्षरों को विकल्प से ढ हो जाता है।

(ङ) जिस वर्ण समूह में र रेफ रूप में व्यञ्जन के पहले आता है उसमें दन्त्य वर्णों के स्थान पर बहुधा मूर्धन्य वर्ण आ जाते हैं। यह ध्वनि परिवर्तन विशेषतः अर्धमागधी में होता है। —पि० प्रा० पारा नं० २८९।

लोप+व्यञ्जन को हकारयुक्त करके द्वित्व,[1] पुष्करं=पोक्खरं, आश्चर्यम्=अच्छरिअं, दृष्टिः = दिट्ठी, अस्ति=अत्थि, पुष्पम्=पुप्फं।

(१४) ऊष्म+अनुनासिक या ल=अनुनासिक या ल+ह,[2] ग्रीष्मः= गिम्हो, अस्मादृशः = अम्हारिसो, प्रश्नः=पण्हो, वह्नि=वण्ही, ब्राह्मणः=बम्हणो, प्रह्लादः=पल्हाओ ।

(१५) ऊष्म (श, ष, स)+अन्तःस्थ (ल को छोड़कर)=स (ऊष्म) को द्वित्व+अन्तःस्थ का लोप, अश्वः=अस्सो, अवश्यम्=अवस्सं, मनुष्यः=मणुस्सो, सहस्रम्=सहस्सं ।

(१६) ऊष्म (श, ष, स)+ऊष्म (श, ष, स)=स्स, निश्शरणम्= णिस्सरणं, दुश्शासनः=दुस्सासणो, दुश्शीलम्=दुस्सीलं ।

(१७) विसर्ग+क, ख, प, फ=विसर्ग का लोप+क, ख, प, फ को द्वित्व,[3] अन्तःकरणम्=अन्तक्करणं, दुःखम्=दुक्खं, अन्तःपातः= अन्तप्पाओ, दुःफलम्=दुप्फलं ।

२. विशिष्ट संयुक्त व्यञ्जन[4]

(१) क्म>प्प, रुक्मिणी=रुप्पिणी ।

---

१. (क) ष्कस्कक्षां खः । श्चत्सप्सां छः । ष्टस्य ठः । स्तस्य थः । ष्पस्य फः । स्पस्य सर्वत्र स्थितस्य ॥३।२९, ४० १०, १२, ३५, ३६ (क्रमशः)। वर०॥ ष्क, स्क, क्ष को ख, श्च, त्स, प्स को छ, ष्ट को ठ, स्त को थ तथा ष्प एवं स्प को फ हो जाता है ।

(ख) देखिए पि० प्रा० पारा नं० ३०१-३०६ एवं ३११ ।

२. (क) पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ॥८।२।७४। हे० ॥

पक्ष्म शब्द के संयुक्त-व्यञ्जन को तथा श्म, ष्म, स्म एवं ह्म को मकार युक्त हकार हो जाता है ।

(ख) सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः ॥८।२।७५। हे० ।

सूक्ष्म शब्द के संयुक्त-व्यञ्जन को एवं श्न, ष्ण, स्न, ह्न, ह्ण, तथा क्ष्ण को ण्ह हो जाता है ।

(ग) ह्लो ल्हः ॥८।२।७६। हे० ॥

ह्ल के स्थान पर ल्ह हो जाता है ।

३. क, ख, प तथा फ के पूर्व आनेवाले विसर्ग को स हो जाता है। तत्पश्चात् समानीकरण की विधि (पृ० १२-१३) के अनुसार उसमें परिवर्तन हो जाता है ।

४ देखिए (१) तथा (२) ८।२।५२। हे० ॥, (३) ८।२।४२ । हे० ॥, (४) ८।२।५१ हे० ॥, (५) ८।२।२४। हे० ॥, (६) ८।२।७०-७१। हे० ॥, (७) ८।२।३२। हे० ॥, (८) ८।२।२६। हे० ॥, (९) ८।२।६३। हे० ॥

२

(२) ड्म>म्प, कुड्मलम्=कुम्पलं ।
(३) ज्ञ>ण (शब्द के प्रारम्भ में), ण्ण (शब्द के मध्य में), ज्ञानम्=णाणं, विज्ञानम्=विण्णाणं ।
(४) त्म>प्प, आत्मा=अप्पा ।
(५) य्य, र्य>ज्ज, शय्या=सेज्जा, भार्या=भज्जा ।
(६) र्ष, ष्प>ह, कार्षापण:=काहावणो, बाष्प: = बाहो ।
(७) स्थ>ट्ठ, अस्थि:=अट्ठी ।
(८) ह्य>ज्झ, गुह्यम्=गुज्झं ।
(९) र्य>र, तूर्यम्=तूरं, सौन्दर्यम्=सुन्देरं ।

३. स्वरभक्ति[1]

संयुक्त व्यञ्जन में यदि एक व्यञ्जन अन्तःस्थ या अनुनासिक हो तो उन्हें स्वर के द्वारा विभक्त कर सरल बना दिया जाता है। विभक्त करनेवाला स्वर अ, इ, ई, तथा उ में से कोई एक स्वर होता है ।

(१) अ से विभक्त—क्ष्मा = छमा, रत्नम्=रयणं, स्नेह:=सणेहो, अग्नि:=अगणी ।[2]

(२) इ से विभक्त—गर्हा=गरिहा, श्री=सिरी, क्रिया=किरिया, आदर्श:=आयरिसो, वर्षशतम्=वरिससयं, हर्ष:=हरिसो, श्लेष:=सिलेसो, श्लोक:=सिलोओ, स्याद्=सिया, स्वप्न:=सिविणो ।[3]

---

१. प्राकृत में संयुक्त व्यञ्जन स्वरभक्ति की सहायता से अलग कर दिये जाते हैं तथा जब वे सरल व्यञ्जनों के रूप में आ जाते हैं तब सरल व्यञ्जन-परिवर्तन के नियमों के अनुसार उनमें परिवर्तन हो जाता है । यह स्वरभक्ति तब दिखाई देती है जब एक व्यञ्जन य, र, ल या अनुस्वार अथवा अनुनासिक हो । स्वरभक्ति की ध्वनि अनिश्चित थी । पि० प्रा० पारा नं०१३० ।

२. (क) क्ष्मा-श्लाघा-रत्नेन्त्यव्यञ्जनात् ॥८।२।१०१। है० ॥
सूत्रोक्त शब्दों में स्थित संयुक्त व्यञ्जन के अन्तिम व्यञ्जन के पूर्व अ (का आगम) हो जाता है ।
(ख) स्नेहाग्न्योर्वा ॥८।२।१०२ । है० ॥
सूत्रोक्त शब्दों के संयुक्त व्यञ्जन अ से विभक्त हो जाते हैं ।

३. (क) र्ह, श्री, ह्री, कृत्स्न, क्रिया, दिष्टयास्वित् ॥८।२।१०४। है० ॥
सूत्रोक्त संयुक्त व्यञ्जनों में स्थित अन्तिम व्यञ्जन के पूर्व इ (का आगम) हो जाता है ।

(३) ई से विभक्त—ज्या=जीआ ।[1]

(४) उ से विभक्त—पद्मम्=पउमं, छद्मम्=छउमं, तन्वी=तणुई, पृथ्वी=पुहुवी, श्वः=सुवे, स्वे=सुवे ।[2]

पाँचवाँ अध्याय

सन्धि-प्रकरण

प्राकृत में सन्धि की व्यवस्था वैकल्पिक है, नित्य नहीं ।[3] सन्धि के नियमों के आधार पर उसे पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है। वे इस

(ख) र्श-र्ष-तप्त-वज्रे वा ॥८।२।१०५।हे०॥
सूत्रोक्त संयुक्त व्यञ्जन कभी-कभी इ से विभक्त हो जाते हैं ।

(ग) लात् ॥८।२।१०६।हे०॥
संयुक्त व्यञ्जन में अन्तिम व्यञ्जन के रूप में स्थित ल के पूर्व इ (का आगम) हो जाता है ।

(घ) स्याद्-भव्य-चैत्य-चौर्यसमेषु यात् ॥८।२।१०७।हे०॥
सूत्रोक्त शब्दों में से संयुक्त व्यञ्जनों के य के पूर्व इ (का आगम) हो जाता है ।

(ङ) स्वप्ने नात् ॥८।२।१०८।हे०॥
स्वप्न शब्द में न के पूर्व इ (का आगम) हो जाता है ।

१. ज्यायामीत् ॥८।२।११५।हे०॥
ज्या शब्द के अन्तिम व्यञ्जन के पूर्व ई (का आगम) हो जाता है ।

२. (क) पद्म-छद्म-मूर्ख-द्वारे वा ॥८।२। ११२।हे०॥
सूत्रोक्त शब्दों में स्थित संयुक्त व्यञ्जनों के अन्तिम व्यञ्जनों के पूर्व विकल्प से उ (का आगम) हो जाता है ।

(ख) तन्वीतुल्येषु ॥८।२।११३। हे०॥
तन्वी आदि शब्दों स्थित संयुक्त-व्यञ्जन के अन्तिम व्यञ्जन के पूर्व उ (का आगम) हो जाता है । तन्वी आदि शब्द :—
तन्वी लघ्वी मृद्वी पद्वी साध्वी च गुर्वी च ।
पूर्वी च बह्वचशिश्वी पृथ्वी चेत्यादयः प्रोक्ताः ॥ ३।९४। मा० की वृत्ति ॥

एकस्वरे श्वः स्वे ॥८।२।११४।हे०॥
एक स्वर वाले पद श्वस् तथा स्व में स्थित संयुक्त व्यञ्जन के अन्तिम व्यञ्जन के पूर्व उ (का आगम) हो जाता है ।

३. पदयोः सन्धिर्वा ॥८।१।५। हे०॥
संस्कृत में प्रचलित सन्धि प्राकृत में विकल्प से होती है ।

प्रकार हैं—

१. स्वर-सन्धि, २. प्रकृतिभाव, ३. उद्वृत्तस्वर-सन्धि, ४. अव्यय-स्वर-सन्धि, ५. व्यञ्जन-सन्धि।

१. स्वर सन्धि

१.१ सवर्ण स्वर[1]

(१) अवर्ण+अवर्ण=आ, णर+अहिवा=णराहिवा (नराधिपाः), विसम+आयवो=विसमायवो (विषमातपः)।

(२) इवर्ण+इवर्ण=ई, दहि+ईसरो=दहीसरो (दधीश्वरः), रयणी+ईसो=रयणीसो (रजनीशः)।

(३) उवर्ण+उवर्ण=ऊ, साउ+उअयं=साऊअयं (स्वादूदकम्), भाणु+उवज्झायो=भाणूवज्झायो (भानूपाध्यायः)।

१.२ असवर्ण स्वर

(१) अवर्ण+इवर्ण (असंयुक्त-व्यञ्जन के पूर्व)=ए,[2] वास+इसी=वासेसी (व्यासर्षिः), रामा+इअरो=रामेअरो (रामेतरः)।

(२) अवर्ण+इवर्ण (संयुक्त-व्यञ्जन के पूर्व)=इ,[3] गअ+इंदो=गइंदो (गजेन्द्रः), णर+इंदो=णरिंदो (नरेन्द्रः)।

(३) अवर्ण+उवर्ण (असंयुक्त व्यञ्जन के पूर्व)=ओ, गूढ+उअरं=गूढोअरं (गूढोदरम्), साहीण+उवाआ=साहीणोवाआ (स्वाधीनोपाया)।

(४) अवर्ण+उवर्ण (संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व)=उ, कण्ण+उप्पल=कण्णुप्पलं (कर्णोत्पलम्), रयण+उज्जलं=रयणुज्जलं (रत्नोज्ज्वलम्)।

(५) अवर्ण+ए=ए[4], गाम+एणी=गामेणी (देशी शब्द), तहा+एअ=तहेअ (तथैव)।

(६) अवर्ण+ओ=ओ,[4] जल+ओहो=जलोहो (जलौघः). मट्टिआ+ओलित्तं=मट्टिओलित्तं (मृत्तिकावलिप्तम्)।

(७) स्वर+स्वर = स्वरलोप + स्वर[5], तिअस+ईसो = तिअसीसो (त्रिदशेशः), णीसास+ऊसासा=णीसासूसासा (निःश्वासोच्छ्वासौ)।

---

१. पि. प्रा. पारा नं. १४८।

२. वही, १४९।

३. वही, १५०।

४. वही, १५३ तथा पृ० २० उद्ध० ५।

५. लुक् ॥८।१।१०। हे० ॥
स्वर परे रहते स्वर का लोप होता है।

२. प्रकृति-भाव

प्राकृत के स्वरों में, कुछ परिस्थितियों में, सन्धि न होकर, उनकी यथा-स्थिति रह जाती है। वे परिस्थितियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) इवर्ण + स्वर (इवर्ण को छोड़कर) = यथास्थिति,[1] णहप्पहावलि + अरुणो = णहप्पहावलि अरुणो (नखप्रभावल्यरुणः), जइ + एवं = जइ एवं (यद्येवम्), न वेरिवग्गे वि + अवयासो = न वेरिवग्गे वि अवयासो (न वैरिवर्गेप्यवकाशः)।

(२) उवर्ण + स्वर (उ वर्ण को छोड़कर) = यथास्थिति,[1] सु + अलंकियं = सुअलंकियं (स्वलङ्कृतम्), वहु + अवऊढो = वहुअवऊढो (वधूप-गूढः)।

(३) एवर्ण या ओवर्ण + स्वर = यथास्थिति,[2] वणे + अडइ = वणे अडइ (वनेऽटति), अहो + अच्छरिअं = अहोअच्छरिअं (अहो आश्चर्यम्), देवीए + एत्थ = देवीए एत्थ (देव्या अत्र), एओ + एत्थ = एओ एत्थ (एकोऽत्र)।

(४) क्रियापद का स्वर + स्वर = यथास्थिति,[3] होइ + इह = होइ इह (भवतीह)।

३. उद्वृत्तस्वर-सन्धि

व्यञ्जन के लुप्त हो जाने पर जो स्वर बचा रहता है, उसे उद्वृत्तस्वर कहते हैं।[4] उद्वृत्तस्वरों के विषय में सन्धि की व्यवस्था इस प्रकार है—

प्रमुख नियम

स्वर + उद्वृत्तस्वर = (यथास्थिति),[5] वरा + आ = वराआ (वराकाः) कओव + आरो = कओवआरो (कृतोपकारः), का + अव्वं = काअव्वं (कर्त्तव्यम्), तर + इ = तरइ (तरति)।

---

१. न युवर्णस्यास्वे ।।८।१।६। हे० ।।
यदि इवर्ण तथा उवर्ण के आगे असवर्ण-स्वर आये तो उनमें सन्धि नहीं होती है।

२. एदोतोः स्वरे ।।८।१।७। हे० ।।
ए तथा ओ के बाद स्वर-वर्ण होने पर उनमें सन्धि नहीं होती है।

३. त्यादेः ।।८।१।९। हे० ।।
क्रियापद के अन्तिम स्वर के बाद स्वर आने पर उनमें सन्धि नहीं होती है।

४. व्यञ्जनसंपृक्तः स्वरो व्यञ्जने लुप्ते योऽवशिष्यते स उद्वृत्त इहोच्यते ।।८।१।८।हे०।।

५. स्वरस्योद्वृत्ते ।।८।१।८। हे० ।।
स्वर से परे उद्वृत्तस्वर होने पर उनमें सन्धि नहीं होती है।

अपवाद

(१) अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण+सवर्ण(उद्वृत्त) स्वर=दीर्घ,[1] उद्धा+अइ=उद्धाइ (उद्धावति), साल+आहणो=सालाहणो (शातवाहनः), बि+इओ=बीओ (द्वितीयः), सि+इया = सीया (शिविका), उ+उम्बरो=उम्बरा (उदुम्बरः)।

(२) अवर्ण+इवर्ण (उद्वृत्तस्वर)=ए,[1] थ+इरो=थेरो (स्थविरः), म+इहरो=मेहरो (मतिधरः)।

(३) अवर्ण+उवर्ण (उद्वृत्तस्वर)=ओ,[2] म+ऊरो=मोरो (मयूरः), च+उद्दसी=चोद्दसी (चतुर्दशी), च+उग्गुणो = चोग्गुणो (चतुर्गुण.)।

(४) अवर्ण (प्रथम-पद का अन्तिम स्वर)+असवर्ण स्वर (द्वितीय पद का प्रारम्भिक उद्वृत्तस्वर)=अवर्ण का लोप+असवर्ण स्वर,[3] राअ+उलं=राउलं (राजकुलम्), वाअ+उत्तो=वाउत्तो (वातपुत्रः)

४. अव्ययस्वर-सन्धि

(१) (क) स्वर+अपि=स्वर+वि,[4] केण+अपि=केण वि, (केनापि); सुयणा+अपि=सुयणावि (सुजना अपि), को+अपि=को वि (कोऽपि)।

(ख) अनुस्वार+अपि=अनुस्वार+पि,[4] मरणं+अपि=मरणं पि (मरणमपि), तं+अपि=तं पि (तमपि, तदपि), किं+अपि = किं पि (किमपि)।

(२) (क) स्वर+इति=स्वर (ह्रस्व)+त्ति,[5] तहा+इति = तहत्ति (तथेति), नत्थि+इति = नत्थि त्ति (नास्तीति), दीसइ+इति= दीसइ त्ति (दृश्यत इति)।

(ख) अनुस्वार+इति = अनुस्वार+ति,[5] कि+इति = किं ति

---

१. पि. प्रा. पारा नं. १५७, १५९।

२. वही १५८।

३. वही, १६०।

४. (क) पदादपेर्वा ॥८।१।४१। हे०॥
पद से परे आदि के अ का लोप हो जाता है।
(ख) ध्वनिबल की हीनता के प्रभाव से अव्यय बहुधा आरम्भ के स्वर का लोप कर देते हैं। स्वर के बाद अपि का शेष पि वि में बदल जाता है।
—पि. प्रा. पारा नं. १३५।

५. इते: स्वरात् तश्च द्विः ॥८।१।४२।हे०॥

(किमिति), दिट्ठं + इति = दिट्ठं ति (दृष्टमिति), पढमं + इति = पढमं ति (प्रथममिति)।

(३) (क) स्वर + इव = स्वर + व्व,[1] सोणा रतुला + इव = सोणारतुल व्व (सुवर्णकारतुलेव), चन्दो + इव = चन्दो व्व (चन्द्र इव), दासा + इव = दासा व्व (दासा इव)।

(ख) अनुस्वार + इव = अनुस्वार + व,[1] रिणं + इव = रिणं व (ऋणमिव), गोट्ठं + इव = गोट्ठं व (गोष्ठमिव), गेहं इव + व गेहं व = (गृहमिव)।

(४) त्यदादि या अव्यय + अव्यय या त्यदादि = द्वितीय-पद के आदि स्वर का लोप,[2] अम्हे + एत्थ = अम्हेत्थ (वयमत्र), जइ + इमा = जइमा (यदीयम्), जइ + अहं = जइहं (यद्यहम्)।

(५) इवर्ण या उवर्ण (उपसर्ग का अन्तिम स्वर) + स्वर = सन्धि (संस्कृत के अनुसार, तत्पश्चात् संयुक्त व्यञ्जन में नियमानुसार परिवर्तन),[3] अति + अन्तं = अत्यन्तं = अच्चन्तं (अत्यन्तम्), अभि + आगओ = अभ्यागओ = अब्भागओ (अभ्यागतः), अणु + एसइ = अण्वेसइ = अण्णेसइ (अन्वेषति)।

५. व्यञ्जन सन्धि

(१) पद का अन्तिम म् = अनुस्वार,[4] जलम् = जलं (जलम्), गिरिम् = गिरिं (गिरिम्)।

(२) पद का अन्तिम म् + स्वर = अनुस्वार, (विकल्प से),[5] उसभम् + अजिअं = उसभं अजिअं, उसभमजिअं, (ऋषभमजितम्)।

पद से परे इति के इकार का लोप हो जाता है तथा अवशिष्ट ति यदि स्वर से परे हो तो उसका त्ति हो जाता है।

१. पि. प्रा. पारा नं. ९२, १३५।

२. त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ॥८।१।४०।हे०॥
त्यदादि तथा अव्यय से परे त्यदादि तथा अव्यय के प्रथम स्वर का प्रायशः लोप हो जाता है।

३. पि. प्रा. पारा नं. १५५।

४. मोनुस्वारः ॥८।१।२३।हे०॥
शब्द का अन्तिम मकार का अनुस्वार होता है।

५. वा स्वरे मश्च ॥८।१।२४। हे०॥
स्वर परे रहते शब्द के अन्तिम मकार को अनुस्वार विकल्प से होता है।

(३) ङ्, ञ्, ण्, न् + व्यञ्जन = अनुस्वार + व्यञ्जन,[1] पराङ् + मुहो = परंमुहो (पराङ्मुखः), कञ् + चुओ = कंचुओ (कञ्चुकः), सण् + मुहो = छंमुहो (षण्मुखः), सन् + झा = संझा (सन्ध्या)।

(४) अनुस्वार + वर्गीय व्यञ्जन = तद्वर्गीय पञ्चम व्यञ्जन + वर्गीय व्यञ्जन (विकल्प से),[2] पं + को = पङ्को, पंको (पङ्कः), लं + छणं = लञ्छणं, लंछणं (लाञ्छनम्), सं + ढो = सण्ढो, संढो (षण्ढः), चं + दो = चन्दो, चंदो (चन्द्रः), आरं + भो = आरम्भो, आरंभो (आरम्भः)।

(५) अनुस्वार का आगम,[3] वक्रम् = वंकं, मनःशिला = मणंसिला, उपरि = उवरिं। कृत्वा = काऊणं, काऊण, कालेन = कालेणं, कालेण, वीरेषु = वीरेसुं, वीरेसु।

(६) म का आगम (विकल्प से),[4] एकैकम् = एक्कमेक्कं, अङ्गे अङ्गे = अङ्गमङ्गम्मि।

(७) अनुस्वार का लोप,[5] विंशतिः = वीसा, त्रिंशत् = तीसा, मांसम् = मासं, मंसं; सिंहः = सीहो, सिंघो।

---

१. ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥८।१।२५।हे०॥
सूत्रोक्त व्यञ्जनों को व्यञ्जन परे रहते अनुस्वार हो जाता है।

२. वर्गेन्त्यो वा ॥८।१।३०। हे० ॥
वर्गीय व्यञ्जन परे रहते अनुस्वार को तत्तद्वर्ग का अन्तिम व्यञ्जन हो जाता है।

३. (क) वक्रादि शब्दों के प्रथम, द्वितीय या तृतीय स्वर के अन्त में अनुस्वार आगम के रूप में होता है।

(ख) क्त्वा–स्यादेर्ण–स्वोर्वा ॥८।१।२७। हे० ॥
क्त्वा तथा स्यादि प्रत्ययों के ण एवं सु के आगे विकल्प से अनुस्वार का आगम होता है।

४. वीप्स्यात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥८।३।१। हे० ॥
वीप्सार्थक पद से परे स्यादि (स्वादि) प्रत्यय के स्थान पर स्वरादि वीप्सार्थक पद परे रहते विकल्प से म् होता है।

५. विंशत्यादेर्लुक् ॥मांसादेर्वा ॥८।१।२८-२९। हे० ॥
विंशति आदि शब्दों के अनुस्वार का लोप हो जाता है। मांस आदि शब्दों के अनुस्वार का लोप हो जाता है।

छठा अध्याय

कृत्प्रत्यय

१. वर्तमानकृदन्त

(१) संस्कृत-प्रत्यय शतृ, शानच् में से प्रत्येक के स्थान पर धातु में न्त, माण प्रत्यय जोड़ने पर वर्तमान-कृदन्त के रूप बनते हैं[1] स्त्रीलिङ्ग में न्त एवं माण के साथ या केवल ई प्रत्यय जुड़ता है।[2]

(२) न्त, माण तथा ई प्रत्यय के पूर्ववर्ती अ को विकल्प से ए हो जाता है।[3]

१.१. कर्तृवाच्य वर्तमान-कृदन्त

पुं०	नपुं०	स्त्री०
	हस धातु	
हसन्तो, हसमाणो	हसन्तं, हसमाणं	हसन्ती, हसेन्ती, हसमाणी
हसेन्तो, हसेमाणो	हसेन्तं, हसेमाणं	हसेमाणी, हसई, हसेई
	हो (भू) धातु	
होन्तो, होमाणो	होन्तं, होमाणं	होन्ती, होमाणो, होई

१.२. कर्मवाच्य वर्तमान-कृदन्त

हसीअन्तो, हसीअमाणो	हसीअन्तं, हसीअमाणं	हसीअन्ती, हसीअमाणी,
हसिज्जन्तो, हसिज्जमाणो	हसिज्जन्तं, हसिज्जमाणं	हसिज्जन्ती, हसिज्जमाणी हसीअई, हसिज्जई।

१.३. कर्तृवाच्य प्रेरणार्थक वर्तमानकृदन्त

हस धातु (पुं०)—हासन्तो, हासेन्तो; हासमाणो, हासेमाणो; हसावन्तो, हसावेन्तो; हसावमाणो, हसावेमाणो।

---

१. शत्रानशः ॥८।३।१८१। हे० ॥
शतृ तथा आनश् (शानच्) को न्त एवं माण आदेश होते हैं।

२. ई च स्त्रियाम् ॥८।३।१८२। हे० ॥
स्त्रीलिङ्ग में शतृ तथा आनश् (शानच्) को ई होता है। चकार से न्त एवं माण प्रत्यय भी होते हैं।

३. वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ॥८।३।१५८। हे०॥
वर्तमान काल, पञ्चमी विभक्ति तथा शतृ प्रत्यय परे रहते अ को विकल्प से ए होता है।

१.४. कर्मवाच्य प्रेरणार्थक वर्तमानकृदन्त

हस धातु (पुं०)—हासीअन्तो, हासीअमाणो; हासिज्जन्तो, हासिज्जमाणो; हसावीअन्तो, हसावीअमाणो; हसाविज्जन्तो, हसाविज्जमाणो ।

२. भूतकृदन्त

(१) संस्कृत क्त के स्थान पर प्राकृत में अ प्रत्यय (जो कि प्राकृत के वर्ण-परिवर्तन से सम्बन्धित नियमों के अनुसार क्त का ही परिवर्तित रूप है।) जोड़ने से भूतकृदन्त के रूप बनते हैं।

(२) अ प्रत्यय के पूर्ववर्ती अ को इ हो जाता है।[1]

२.१. कर्तृवाच्य भूतकृदन्त

गम + अ = गमिओ (गतः)।
चल + अ = चलिओ (चलितः)।

२.२. कर्मवाच्य भूतकृदन्त

कर + अ = करिओ (कृतः)।
पढ + अ = पढिओ (पठितः)।

२.३. प्रेरणार्थक (णिजन्त) भूतकृदन्त

हस धातु (नपुं०)—हसाविअं, हासिअं (हासितम्)।

२.४. संस्कृत-सिद्ध शब्दों से निर्मित भूतकृदन्त

गतम्=गअं, कृतम्=कडं, मृतम्=मडं, जितम्=जिअं, पिहितम्=पिहिअं, आदि।

२.५ सम्बन्धसूचक भूतकृदन्त

(१) संस्कृत क्त्वा और ल्यप् प्रत्यय के स्थान पर धातु में तुं, अ, तूण, तुआण, इत्ता, इत्ताण, आय तथा आए प्रत्यय लगाने पर सम्बन्ध-सूचक भूतकृदन्त के रूप बनते हैं।[2]

(२) सम्बन्धसूचक भूतकृदन्त के प्रत्ययों के ण पर विकल्प से अनुस्वार हो जाता है।

---

१. क्ते ॥८।३।१५६। हे०॥
क्त प्रत्यय परे रहते अ को इ होता है।

२. तुआण, इत्ता, इत्ताण, आय तथा आए प्रत्ययों का प्रयोग प्रायः अर्ध-मागधी में दृष्टिगोचर होता है। —देखिए पि० प्रा० पारा नं० ५८३-५९३।

(३) सम्बन्धसूचक भूतकृदन्त के प्रत्ययों के पूर्ववर्ती अ को प्रयोगानुसार इ और ए आदेश होते हैं।
हस+तुं=हसिउं, हसेउं (हसित्वा)।
हस+अ=हसिअ, हसेअ (हसित्वा)।
हस+तूण=हसिऊण, -णं; हसेऊण, -णं (हसित्वा)।
हस+तुआण=हसिउआण, -णं; हसेउआण, -णं (हसित्वा)।
कर+इत्ता=करित्ता (कृत्वा)।
कर+इत्ताण=करित्ताण, करित्ताणं (कृत्वा)।
गह+आय=गहाय (गृहीत्वा)।
आया+आए=आयाए (आदाय)।

३. **भविष्यत्कृदन्त**

धातु में **स्सन्त, स्समाण, स्सई** प्रत्यय जोड़ने पर भविष्यत् कृदन्त के रूप बनते हैं।[1] **स्सई** प्रत्यय केवल स्त्रीलिङ्ग में जुड़ता है।
हस (पुं०)—हसिस्सन्तो, हसिस्समाणो (हसिष्यत्, हसिष्यमाणः)।
(स्त्री०)—हसिस्सई (हसिष्यन्ती) आदि।

४. **हेत्वर्थककृदन्त**

(१) संस्कृत **तुम्** प्रत्यय के स्थान पर धातु में **उं** तथा **त्तए** प्रत्यय लगाने पर हेत्वर्थक कृदन्त के रूप बनते हैं। **त्तए** प्रत्यय का प्रयोग अर्धमागधी में सबसे ज्यादा होता है।[2]
(२) उं एवं त्तए प्रत्ययों के पूर्ववर्ती अ को इ तथा ए हो जाते हैं।[3]
हस+उं=हसिउं, हसेउं (हसितुं)।
कर+त्तए=करित्तए, करेत्तए (कर्तुं)।

५. **विध्यर्थककृदन्त**

(१) धातु में **तव्व, अणिज्ज** तथा **अणीअ** प्रत्यय लगाने से विध्यर्थकदन्त के रूप बनते हैं।
(२) संस्कृत के विध्यर्थक **यत्** प्रत्यय को प्राकृत में **ज्ज** हो जाता है।

---

१. वर्तमानकालीन कृदन्त-प्रत्ययों के पूर्व इस्स जोड़ने से भविष्यत्कालीन कृदन्त के प्रत्यय बनते हैं।
२. देखिए पि० प्रा० पारा नं० ५७८।
३. एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ॥८।३।१५७। हे०॥
क्त्वा आदि प्रत्यय एवं भविष्यत्कालीन प्रत्यय परे रहते पूर्ववर्ती अ को ए तथा इ होते हैं।

(३) तव्व प्रत्यय के पूर्ववर्ती अ को इ तथा ए हो जाते हैं।

हस+तव्व=हसिअव्वं, हसेअव्वं हसितव्वं, हसेतव्वं (हसितव्यम्)।
हस+अणिज्ज, अणीअं=हसणिज्जं, हसणीअं (हसनीयम्)।
कर+अणिज्ज, अणीअ=करणिज्जं, करणीअं (करणीयं)।
कर+ज्ज=कज्जं (कार्यम्), वज्जं (वर्ज्यम्)।

५. कर्तृसूचककृदन्त

धातु में इर प्रत्यय लगाने पर कर्तृसूचक कृदन्त के रूप बनते हैं।[1]
हस+इर=हसिरो (हसनशीलः पुरुषः), हसिरा (हसनशीला स्त्री)।
त्वर+इर=तुरिरो।

सातवाँ अध्याय

तद्धितप्रत्यय

अण्>एच्चय, यौष्माकम्=तुम्हेच्चयं, आस्माकम्=अम्हेच्चयं।[2]
कन्>क, चन्द्रकः=चंदओ, चन्दो; बहुकम्=बहुअयं, बहुअं।[3]
कन्>इल्ल, पल्लवकः=पल्लविल्लो, पल्लवो।
कन्>उल्ल, पितृकः=पिउल्लो, पिआ; हस्तकः=हत्थुल्लो, हत्थो।
कन्>ल्लो, एककः=एकल्लो, एक्को; नवकः=नवल्लो, नवो।[4]
कृत्वस्>हुत्त, शतकृत्वः=सयहुत्तं, सहस्रकृत्वः=सहस्सहुत्तं।[5]

---

१. शीलाद्यर्थस्येरः ॥८।२।१४५। हे०॥
शीलधर्म के अर्थ में विहित प्रत्यय को इर होता है।

२. युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः ॥८।२।१४९। हे०॥
युष्मद् एवं अस्मद् शब्द से इदमर्थक अञ् (अण्) को एच्चय होता है।

३. स्वार्थे कश्च वा ॥८।२।१६४। हे०॥
स्वार्थ में विकल्प से क तथा डित् इल्ल, उल्ल प्रत्यय होते हैं।

४. ल्लो नवैकाद्वा ॥८।२।१६५। हे०॥
नव तथा एक शब्द को स्वार्थ में विकल्प से ल्लो होता है।

५. कृत्वसो हुत्तं ॥८।२।१५८। हे०॥
कृत्वस् (कृत्वसुच्) प्रत्यय को हुत्त आदेश होता है।

ख>इक, सर्वाङ्गीणः = सव्वङ्गिओ।[1]

भवार्थक प्रत्यय>इल्ल, उल्ल; ग्रामीणम्=गामिल्लं, पौरी=पुरिल्ला[2], आत्मनि भवम् = अप्पुल्लं।

छ>णय, आत्मीयम्=अप्पणयं।[3]

छ>केर, युष्मदीयः = तुम्हकेरो, अस्मदीयः = अम्हकेरो।[4]

छ>क्क, परकीयम्=पारक्कं पारकेरं।[5]

छ>इक्क, राजकीयम्=राइक्कं, रायकेरं।

ण>इकट् पान्थः = पहिओ।[6]

तसिल्>त्तो, दो; सर्वतः = सव्वत्तो, सव्वदो, सव्वओ; यतः = यजत्तो, जदो, जओ।[7]

तैलच्>एल्ल, कटुतैलं = कडुएल्लं।[8]

त्रल्>हि, ह, त्थ; यत्र = जहि, जह, जत्थ; तत्र=तहि तह, तत्थ।[9]

त्व>डिमा, त्तण; पीनत्वम् = पीणिमा, पीणत्तणं।[10]

---

१. सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥८। २।१५१। हे०॥
सर्वाङ्ग शब्द के ईन (ख) को इक होता है।

२. डिल्ल-डुल्लौ भवे ॥८।२।१६३। हे०॥
भवार्थ में शब्द से परे डित् इल्ल उल्ल प्रत्यय होते हैं।

३. ईयस्यात्मनो णयः ॥८।२।१५३। हे०॥
आत्मन् शब्द से परे ईय (छ) को णय आदेश होता है।

४. इदमर्थस्य केरः ॥८।२।१४७। हे०॥
इदमर्थक प्रत्यय को केर आदेश होता है।

५ पर-राजभ्यां क्क-डिक्कौ च ॥८।२।१ ८। हे०॥
पर, राजन् शब्द से इदमर्थक प्रत्यय को क्रमशः डित् क्क एवं इक्क होते हैं।

६. पथो णस्येकट् ॥८।२।१५२। हे०॥
पथ शब्द से होने वाले ण को इकट् आदेश होत्ता है।

७. त्तो दो तसो वा ॥८।२।१६०। हे०॥
तस् (तसिल्) प्रत्यय के स्थान पर विकल्प से त्तो और दो आदेश होते हैं।

८. अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः ॥८।२।१५५। हे०॥
अङ्कोठ वर्जित शब्द से परे तैल (तैलच्) प्रत्यय को डेल्ल आदेश होता है।

९. त्रपो हि-ह-त्थाः ॥८।२।१६१। हे०॥
त्रप् (त्रल्) प्रत्यय को विकल्प से हि, ह, त्थ आदेश होते हैं।

१०. त्वस्य डिमा-त्तणौ वा ॥८।२।१५४। हे०॥
त्व प्रत्यय को विकल्प से डिमा तथा त्तण आदेश होते हैं।

दा>सि, सिअं, इआ; एकदा=एक्कसि, एक्कसिअं, एक्कइआ, एगया ।[1]
मतुप्>आलु, ईर्ष्यावान्=ईसालू, लज्जावान्=लज्जालू ।[2]
मतुप्>इल्ल. शोभावान्=सोहिल्लो, छायावान्=छाइल्लो ।
मतुप्>उल्ल, विचारवान्=विआरुल्लो, दर्पवान्=दप्पुल्लो ।
मतुप्>आल, रसवान्=रसालो, जटावान्=जडालो ।
मतुप्>वन्त, धनवान्=धणवन्तो, भक्तिमान्=भत्तिवन्तो ।
मतुप्>मन्त, हनुमान्=हणुमन्तो, श्रीमान्=सिरिमन्तो ।
मतुप्>इत्त, काव्यवान्=कव्वइत्तो, मानवान्=माणइत्तो ।
मतुप्>इर, गर्ववान्=गव्विरो, रेखावान्=रेहिरो ।
मतुप्>मण, धनवान्=धणमणो, शोभावान्=सोहामणो ।
वति>व्व, मधुवत्=महुव्व, मथुरावत्=महुरव्व ।[3]
परिमाणार्थक प्रत्यय >इत्तिअ, यावत्=जित्तिअं, एतावत्=तित्तिअं, एतावत्=इत्तिअं ।[4]
एत्तिअ, इयत्=एत्तिअं, कियत्=केत्तिअं, एतावत्=एत्तिअं ।।[5]
एत्तिल, इयत्–एत्तिलं, यावत्=जेत्तिलं, एतवान्=एत्तिलं ।[5]
एद्दह, इयत्=एद्दहं, यावत्=जेद्दहं, एतावत्=एद्दहं ।[5]

प्राकृत में एक से श्रेष्ठ तथा सबसे श्रेष्ठ के अर्थ में तर (अर), तम (अम), ईयस् तथा इष्ठ (इट्ठ) प्रत्ययों का प्रयोग संस्कृत के समान होता है। जैसे—

तिक्ख	तिक्खअर	तिक्खअम
पिअ	पिअअर	पिअअम
गुरु	गरीयस	गरिट्ठ
पडु	पडीयस, पडुअर	पडिट्ठ पडुअम ।

---

१. वैकाद्दः सि सिअं इआ ।।८।२।१६२ । हे०।।
एक शब्द से परे दा को विकल्प से सि, सिअं तथा इआ आदेश होते हैं ।

२ आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ।।८।२।१५९ । हे०।।
मतु (मतुप्) प्रत्यय को सूत्रोक्त आदेश होते हैं ।

३. वतेर्व्वः ।।८।२।१५० । हे०।।
वति प्रत्यय को व्व होता है ।

४. यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च ।।८।२।१५६ । हे०।।
यद्, तद् तथा एतद् से परे परिमाणार्थक प्रत्यय को इत्तिअ आदेश होता है तथा एतत् शब्द का लोप होता है ।

५. इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः ।।८।२।१५७ । हे०।।
इदम् किम् यद् तद् एतद् शब्द के डाव् अत् (वतुप्) प्रत्यय को एत्तिअ एत्तिल एवं एद्दह होते हैं तथा एतत् शब्द का लोप होता है ।

आठवाँ अध्याय

समास

समास का प्राकृत-वैयाकरणों ने अलग से कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः समास की दृष्टि से प्राकृत में संस्कृत से कोई अन्तर नहीं है। यथा—

१. अव्ययीभाव समास

गुरुणो समीवं = उवगुरु (समीप अर्थ में)
जिणस्स पच्छा=अणुजिणं (पश्चात् अर्थ में)
रूवस्स जोग्गं = अणुरूवं (यथा के अर्थ में) आदि।

२. तत्पुरुष समास

भद्दं पत्तो = भद्दपत्तो (द्वितीया तत्पुरुष)
गुणेहिं संपण्णो = गुणसम्पण्णो (तृतीया तत्पुरुष)
चोराओ भयं - चोरभयं (पञ्चमी तत्पुरुष)
पिसुणस्स वअणं = पिसुणवअणं (षष्ठी तत्पुरुष)
कलासु कुसलो=कलाकुसलो (सप्तमी तत्पुरुष)
न विरई=अविरई (नञ्तत्पुरुष)। आदि।

३. कर्मधारय समास

महन्तो अ सो वीरो=महावीरो (विशेषणपूर्वपद)
कुमारी अ सा गब्भिणी=कुमारीगब्भिणी (विशेष्यपूर्वपद)
चंदो व्व मुहं=चन्दमुहं (उपमानपूर्वपद)
मुहं चंदो व्व=मुहचन्दो (उपमानोत्तरपद), आदि।

४. द्विगु समास

नवण्हं तत्ताणं समाहारो = नवतत्तं (एकवद्भावी)
तिण्णि लोया=तिलोया (अनेकवद्भावी)

५. द्वन्द्व समास

देवा अ देवीओ अ=देवदेवीओ (इतरेतरद्वन्द्व)
तवो अ संजमो अ एएसिं समाहारो = तवसंजमं (समाहारद्वन्द्व)
माआ अ पिआ अ त्ति=पिअरा (एकशेषद्वन्द्व)

६. बहुब्रीहि समास

पीअं अंबरं जस्स सो=पीअंबरो (समानाधिकरण)

णीलो कण्ठो जस्स सो=णीलकण्ठो (विशेषणपूर्वपद)
चन्दो व्व मुहं जाए=चन्दमुही (उपमानपूर्वपद)
धुओ सव्वो किलेसो जस्स सो=धुअसव्वकिलेसो (बहुपद)
न अत्थि भयं जस्स सो=अभयो (नञ्) । आदि ।

नवाँ अध्याय

स्त्रीप्रत्यय[१]

प्राकृत में केवल तीन ही स्त्री-प्रत्यय (आ, ई, ऊ) दृष्टिगोचर होते हैं तथा इनका प्रयोग संस्कृत के ही समान होता है। जैसे—

१. आ प्रत्यय

अकारान्त शब्दों को स्त्रीलिङ्ग बनाने में आ प्रत्यय का उपयोग होता है। अअ+आ=अआ (अजा), वच्छ + आ = वच्छा (वत्सा), निउण + आ= निउणा (निपुणा), पढम + आ=पढमा (प्रथमा)।

२. ई प्रत्यय

(१) संस्कृत नकारान्त शब्दों को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिए ई प्रत्यय लगाया जाता है।
राया+ई=राणी (राज्ञी), हत्थि (ण)+ई=हत्थिणी (हस्तिनी) आदि।

(२) जाति-अर्थ में जाति-वाचक अकारान्त शब्दों को स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये ई प्रत्यय जोड़ते हैं।
हरिण + ई=हरिणी, सीह=ई=सीही (सिंही)।

(३) अजातिवाचक पुंल्लिग शब्दों से स्त्रीलिंग बनाने के लिए ई प्रत्यय विकल्प से होता है।
नील+ई, आ;=नीली, नीला (नीली), हसमाण+ई, आ;= हसमाणी, हसमाणा (हसमाना) आदि।

(४) छाया तथा हरिद्रा शब्दों से स्त्रीलिंग की विवक्षा में विकल्प से ई प्रत्यय होता है।
छाया+ई=छाही, छाया; हलिद्दा+ई=हलिद्दी, हलिद्दा (हरिद्रा)।

---

१. द्रष्टव्य—८।३।३०।हे०।। से ८।३।३५।हे०।। तक

(५) सु, अम्, आम्, को छोड़कर अन्य सुप् परे रहते किम् यद्, तद् शब्दों से स्त्रीलिंग की विवक्षा में विकल्प से ई प्रत्यय होता है।
कीओ, काओ; जीओ, जाओ; तीओ, ताओ; इत्यादि।

३. ऊ प्रत्यय

आर्य शब्द से स्त्रीलिंग की विवक्षा में कहीं-कहीं ऊ प्रत्यय लगता है।
अज्ज+ऊ=अज्जू (आर्या)[1]।

दशवाँ अध्याय

लिङ्गानुशासन

प्राकृत में संस्कृत के समान सभी संज्ञाएँ तीन लिंगों (पुंलिंग, स्त्रीलिंग तथा नपुंसकलिंग) में विभक्त की गयी हैं। लिंग-व्यवस्था की निम्न विशेषताएँ संस्कृत से भिन्न हैं—

(१) प्रावृष्, शरद्, तथा तरणि शब्दों का प्रयोग पुंलिंग में होता है।[2]
प्रावृट् (स्त्री०)=पाउसो (पुं०), शरद् (स्त्री०)=सरओ (पुं०), तरणिः (स्त्री)०=तरणो (पुं०)।

(२) दामन्, शिरस् तथा नभस् शब्दों को छोड़कर शेष सकारान्त एवं नकारान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः पुंलिंग में होता है।[3]
यशः (नपुं०)=जसो (पुं०), पयः (नपुं०) = पओ (पुं०)।
नर्म (नपुं०)=नम्मो (पुं०), जन्म (नपुं०) = जम्मो (पुं)।

(३) अक्षि वाचक तथा वचन आदि शब्दों का प्रयोग विकल्प से पुंलिंग में होता है।[4]
अक्षिणी (नपुं०)=अच्छी (पुं०), अच्छीइं (नपुं०), अच्छी (स्त्री)।
चक्षुषी (नपुं०)=चक्खू (पुं०), चक्खूइं (नपुं०)।
नयने (नपुं०)=णयणा (पुं०), णयणाइं (नपुं०)।
लोचने (नपुं) = लोअणा (पुं०), लोअणाइं (नपुं०)।
वचनानि (नपुं०) = वयणा (पुं०), वयणाइं (नपुं०)।

---

१ आर्यायां यः श्वश्र्वाम् ।।८।१।७७। हे० ।।
२. प्रावृट्-शरत्तरणयः पुंसि ।।८।१।३१। हे०।।
३ स्नमदाम-शिरो-नभः ।।८।१।३२। हे०।।
४. वाक्ष्यर्थ-वचनाद्याः ।।८।१।३३। हे०।।

कुलम् (नपुं०)=कुलो (पुं०), कुलं (नपुं०)।
माहात्म्यम् (नपुं०)=माहप्पो (पुं०), माहप्पं (नपुं०)।
दुःखानि (नपुं०)=दुक्खा (पुं०), दुक्खाइं (नपुं०)।
भाजनानि (नपुं०)=भायणा (पुं०), भायणाणि (नपुं०)। इत्यादि।

(४) पृष्ठ, अक्षि तथा प्रश्न शब्दों का प्रयोग विकल्प से स्त्रीलिंग में होता है।[1]
पृष्ठम् (नपुं०)=पुट्ठी (स्त्री०), पुट्ठं (नपुं०)।
अक्षि (नपुं०)=अच्छी (स्त्री०), अच्छि (नपुं०)।
प्रश्नः (पुं०)=पण्हा (स्त्री०), पण्हो (पुं०)।

(५) गुण आदि शब्दों का प्रयोग विकल्प से नपुंसकलिंग में होता है।[2]
गुणाः (पुं०)=गुणाइं (नपुं०), गुणा (पुं०)।
देवाः (पुं०)=देवाणि (नपुं०), देवा (पुं०)।
बिन्दवः (पुं०)=बिन्दूइं (नपुं०), बिन्दुणो (पुं०)।
खड्गः (पुं०)=खग्गं (नपुं०), खग्गो (पुं०)।
मण्डलाग्रः (पुं०)=मण्डलग्गं (नपुं०), मण्डलग्गो (पुं०)।
कररुहः (पुं०)=कररुहं (नपुं०) कररुहो (पुं०)।
वृक्षाः (पुं०)=रुक्खाइं (नपुं०), रुक्खा (पुं०)।

(६) इमान्त तथा अञ्जलि आदि शब्दों का प्रयोग विकल्प से स्त्रीलिंग होता है।[3]
इमान्त शब्द
गरिमा (पुं०)=एसा गरिमा (स्त्री०), एस गरिमा (पुं०)।
महिमा (पुं०)=एसा महिमा (स्त्री०), एस महिमा (पुं०)। आदि।
अञ्जलि आदि शब्द—
अञ्जलिः (पुं०)=एसा अञ्जली (स्त्री०), एस अञ्जली (पुं०)।
ग्रन्थिः (पुं०)=एसा गण्ठी (स्त्री०), एस गण्ठी (पुं०) आदि।

(७) स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने पर बाहु शब्द के उकार को आकारादेश हो जाता है।[4]
बाहुः (पुं०)=एसा बाहा (स्त्री०), एसो बाहू (पुं०)।

---

१. पृष्ठाक्षिप्रश्नाः स्त्रियां वा ॥४।२०। वर०॥
२. गुणाद्याः क्लीबे वा ॥८।१।३४। हे०॥
३. वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ॥८।१।३५। हे०॥
४. बाहोरात् ॥८।१।३६।हे०॥

ग्यारहवाँ अध्याय

कारक

प्राकृत में कारक सम्बन्धी नियम कुछ विशेषताओं को छोड़कर संस्कृत के ही समान हैं। विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति होती है किन्तु तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति का एकवचन विकल्प से अपरिवर्तित रहता है।[1]

मुनिभ्यो ददामि = मुणीण देमि, नमो देवाय = णमो देवस्स। देवार्थम् = देवाय, देवस्स; वधार्थम् = वहाय, वहाइ[2], वहस्स।

(२) द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी एवं सप्तमी विभक्तियों के स्थान पर कहीं-कहीं षष्ठी विभक्ति होती है।[3]

तस्या मुखं स्मरामः = तिस्सा मुहस्स भरिमो, धनेन लब्धः = धणस्य लद्धो, चोराद्बिभेति = चोरस्स बीहइ, पृष्ठे केश-भारः = पिट्ठीए केस-भारो।

(३) द्वितीया तथा तृतीया विभक्तियों के स्थान पर कहीं-कहीं सप्तमी विभक्ति होती है।[4]

ग्रामं वसामि नगरे न यामि = गामे वसामि णयरे ण जामि, तैरलङ्कृता पृथ्वी = तेसु अलंकिआ पुहवी।

(४) पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर कहीं-कहीं तृतीया एवं सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।[5]

चोराद्बिभेति = चोरेण बीहइ, अन्तःपुराद् रन्त्वा आगतो राजा = अन्तेउरे रमिउमागओ राया।

(५) सप्तमी विभक्ति के स्थान पर कहीं-कहीं द्वितीया विभक्ति होती है।[6]

विद्युद् ज्योतं स्मरति रात्रौ = विज्जुज्जोयं भरइ रत्तिं।

(६) अर्धमागधी प्राकृत में सप्तमी विभक्ति के स्थान पर तृतीया विभक्ति भी पाई जाती है।[7]

तस्मिन् काले तस्मिन् समये = तेणं कालेणं; तेणं समयेणं।

---

१. (क) चतुर्थ्याः षष्ठी ॥८।३।१३१। हे०॥ (ख) तादर्थ्यङेर्वा ॥८।३।१३२। हे०॥
२. वधाड्डाइश्च वा ॥८।३।१३३। हे०॥
३. क्वचिद् द्वितीयादेः ॥८।३।१३४। हे०॥
४. द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥८।३।१३५। हे०॥
५. पञ्चम्यास्तृतीया च ॥८।३।१३६। हे०॥
६. सप्तम्या द्वितीया ॥८।१३७हे०॥
७. आर्षे तृतीयापि दृश्यते ॥८।१३७हे० की वृत्ति ॥

बारहवाँ अध्याय

अव्यय

प्रायः प्राकृत-अव्यय संस्कृत-अव्यय से स्वर-व्यञ्जन-परिवर्तन द्वारा बनते हैं। जैसे अति=अइ, अन्यथा=अण्णहा, सदा=सइ। प्रमुख प्राकृत अव्ययों की सूची सूचक अर्थों तथा यथासम्भव संस्कृत समानान्तर शब्दों (जिन्हें कोष्ठक में दिखाया गया है) के साथ इस प्रकार है[1]—

अइ (अयि)—सम्भावना, आमन्त्रण
,, (अति)—सामर्थ्य, अतिशय
अण (अन्)—निषेध, प्रतिषेध
अप्पणो (आत्मनः)—स्वयं
अम्मो (?)—आश्चर्य
अरे (अरे)—सम्भाषण, रतिकलह
अलाहि (अलंहि)—निवारण, पर्याप्त
अवि (अपि)—प्रश्न, अवधारण, समुच्चय, सम्भावना, विलाप
अव्वो (?)—सूचना, दुःख, सम्भाषण, अपराध, विस्मय, आनन्द, भय, खेद, विषाद, पश्चात्ताप
आम (ओम)—स्वीकृति-प्रकाशक
इ (इ)—पादपूरक
इर (किल)—सम्भावना, निश्चय, हेतु, वार्ताप्रसिद्ध अर्थ, अरुचि असत्य, सन्देह
इहरा (इतरथा)—अन्यथा
उअ (उत) विकल्प, वितर्क, प्रश्न, समुच्चय, अतिशय, देखो
उअ (दे०)—सरल, ऋजु
ऊ (दे०) गर्हा, आक्षेप (प्रस्तुत वाक्य के विपरीत अर्थ की आशंका से उसे उलटना) विस्मय, सूचना
एक्कसरिअं (दे०)—शीघ्र, तुरन्त
ओ (ओ)—वितर्क, प्रकोप, सूचना, पश्चात्ताप, सम्बोधन, पादपूरक
किर (किल)—इर के समान
किणो (किमिति)—क्यों
खु (खलु)—निश्चय, सन्देह, वितर्क, विस्मय, सम्भावना।
चिअ (एव)—अवधारण
चेअ (एव)—अवधारण
च्च (एव)—अवधारण
जाहे (यदा)—जिस समय
जे—पादपूरक, अवधारण
जेण (येन)—लक्षणार्थक
णइ (?)—निश्चय, निषेध
णवर, णवरं (?)—केवल, अनन्तर
णवरि, णवरिअ (दे०)—केवल, अनन्तर

---

1. देखिए ८।२।१७५-२१७ हे०।।

णवि (?)—वैपरीत्य, निषेध

णाइं (नैव)—प्रतिषेध

तं (तत्)—कारण, वाक्य-उपन्यास

ताहे (तदा)—उस समय

तेण (तेन)—लक्षण-सूचक

थू (?)—निन्दा, तिरस्कार

दर (दे०)—अर्ध, ईषत्

दु (दुर्)—अभाव, दुष्टता, निन्दा

दे (?) संमुखीकरण, सखी को आमन्त्रण

पाडिक्कं
पाडिएक्कं } (प्रत्येक)—हर एक

पिव (अपि+इव)—सादृश्य

पुणरुत्तं (पुनरुक्तम्)—बारम्बार, कृतकरण

बले—निश्चय, निर्धारण

मणे
मण्णे } (मन्ये)—विमर्श

माइं (माऽति)—नहीं

मामि—सखी के आमन्त्रण में

मिव—इव

मोरउल्ला—व्यर्थ, मुधा

र—पादपूरक

रे (रे)—परिहास, रतिकलह सम्भाषण, आक्षेप, तिरस्कार

व (इव)—समान

वणे (?)—निश्चय, विकल्प, अनुकम्पा, सम्भावना

विअ (इव, एव)—इव, अवधारण

विव—इव

वेअ (एव)—अवधारण

वेव्व (दे०)—आमन्त्रण

वेव्वे (दे०)—भय, वारण, विषाद, आमन्त्रण

व्व (इव)—समान

सू (?)—निन्दासूचक

हरे (अरे)—आक्षेप, सम्भाषण, रतिकलह

हला (हला)—सखी के आमन्त्रण में

हले (हले)— " "

हद्धि (हा धिक्)—खेद, अनुताप

हन्द (?)—'ग्रहण करो' अर्थ में

हन्दि (?)— ,, विषाद, विकल्प, पश्चात्ताप, निश्चय, सत्य-संबोधन, उपदर्शन

हिर (किल)—सम्भावना, निश्चय, आदि।

हु (खलु)—निश्चय, वितर्क संशय, संभावना, विस्मय, किन्तु, अपि, वाक्य की शोभा।

हुं (हुम्)—दान, प्रश्न, निवारण, निर्धारण, स्वीकार, हुंकार, अनादर।

तेरहवाँ अध्याय

शब्द-रूप

१. प्रमुख विशेषताएँ

(१) द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग,[1] जैसे—वृक्षौ=वच्छा, पितरौ=पिअरा, ब्राह्मणाभ्याम्=बम्हणेंहि।

(२) चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग,[2] जैसे—दारकाय=दारअस्स, नमो देवाय = नमो देवस्स।

(३) लिङ्ग की सर्वत्र रक्षा नहीं की गई है। कुछ अंश तक लिङ्ग का निर्णय शब्द के अन्तिम वर्ण पर निर्भर करता है,[3] जैसे—तमः (नपुं०)=तमो (पुं०), कुलम् (नपुं०)=कुलो (पुं०), वचनम् (नपुं०) = वयणो (पुं०)।

(४) व्यञ्जनान्त शब्दों का अभाव है। अतः ऐसे शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन का या तो लोप कर दिया जाता है या फिर उसे स्वर में वदल दिया जाता है[4], जैसे—राजन्=राय, शरद् = सरओ।

(५) शब्दों को, उनके मूल (संस्कृत) रूप को ध्यान में रखकर निम्न पाँच प्रकारों में बाँटा गया है:—१. अवर्णान्त, २. इवर्णान्त, ३. उवर्णान्त, ४. ऋवर्णान्त तथा ५. हलन्त। हलन्त शब्द में केवल राय (राजन्)

---

१. द्विवचनस्य बहुबचनम् ॥८।३।१३०। हे०॥
समस्त स्यादि तथा त्यादि विभक्तियों के द्विबचन को बहुबचन होता है।

२. (क) चतुर्थ्याः षष्ठा ॥८।३।१३१।हे०॥
चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी होती है।

(ख) तादर्थ्यङेर्वा ॥८।३।१३२।हे०॥
तादर्थ्य में विहित चतुर्थी को विकल्प से षष्ठी होती है।

(ग) अधिकांश वैयाकरण चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति के प्रयोग का विधान करते हैं किन्तु हेमचन्द्र के अनुसार तादर्थ्य में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग किया जा सकता है। —देखिए पि० प्रा० पारा नं० ३६१।

३. देखिए पि० प्रा० पारा नं० ३५६।

४. प्राकृते हलन्ताः शब्दा एव न सन्ति। केषाञ्चिदन्त्य-हलां लोपः, केषाञ्चाजन्ते परिणामः। —प्रा० व्या० पृ० ११५।

तथा अप्प (आत्मन्)—इन दो शब्दों के रूपों से सम्बन्धित नियमों का अस्तित्व है।[1]

२. पुंलिंग शब्द

२.१ अकारान्त

विभक्तिप्रत्यय-परिवर्तन

विभक्ति	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्रथमा	सि (सु)	डो (ओ)[2]	जस्	लोप[3]
द्वितीया	अम्	म्[4]	शस्	लोप
तृतीया	टा	ण, णं[5]	भिस्	हि, हिँ, हिं[6]
चतुर्थी	——		——	

---

१. (क) प्राकृते पञ्चविधाः शब्दा दृश्यन्ते—अवर्णान्ता, इवर्णान्ता उवर्णान्ता, ऋवर्णान्तास्तथा हलन्ताः। —प्रा० व्या० पृ० ९८।

(ख) ......तत एव हलन्तशब्दसाधनार्थं न नियमविशेषा लक्ष्यन्ते। प्राकृताचार्यैहि केवलमात्मन् राजन्नित्येतयोः शब्दयोः साधनार्थं कति नियमान् कृत्वा त एवान्यत्र नान्तेषु यथादर्शनं प्रवर्तिताः। —प्रा० व्या० पृ० ११५।

२. अतः सेर्डोः ॥८।३।२।हे०॥
अकारान्त शब्द से परे सि (सु) आदि के सि (सु) को डो (ओ) हो जाता है।

३. जस्-शसोर्लुक् ॥८।३।४। हे०॥
अकारान्त शब्द से परे जस् एवं शस् का लोप हो जाता है।

४ अमोस्य ॥८।३।५। हे० ॥
अ से परे अम् के अकार का लोप होता है।

५. टा-आमोर्णः ॥८।३।६। हे० ॥
अकारान्त शब्द से परे टा तथा षष्ठी के बहुवचन आम् को ण होता है। (ण एवं सु के ऊपर विकल्प से अनुस्वार के लिए देखिए—पृ० २४ उद्ध ३ (ख)

६. भिसो हि हिँ हिं ॥८।३।७। हे० ॥
अ से परे भिस् के स्थान पर केवल, सानुनासिक तथा सानुस्वार हि होता है।

पञ्चमी	ङसि	त्तो, दो (ओ), दु (उ), हि, हिन्तो, लोप[१]	भ्यस्	त्तो, दो (ओ), दु (उ), हि, हिन्तो, सुन्तो[२]
षष्ठी	ङस्	स्स[३]	आम्	ण, णं
सप्तमी	ङि	डे (ए), म्मि[४]	सुप्	सु, सुं
सम्बोधन	सु	ओ, लोप[५]	जस्	लोप[६]

वच्छ (वृक्ष) शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	वच्छो	वच्छा[७]
द्वितीया	वच्छं	वच्छे,[८] वच्छा
तृतीया	वच्छेण, वच्छेणं	वच्छेहि, वच्छेहिँ, वच्छेहिं[९]

---

१. (क) ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ॥८।३।८। हे० ॥
अ से परे ङसि को त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो, लोप—ये ६ आदेश होते हैं। (दो तथा दु में दकार ग्रहण भाषान्तर (शौरसेनी, मागधी) के उपयोग के लिए किया गया है ॥८।३।८। हे० की वृत्ति।)
(ख) ङसेर्लुक् ॥८।३।१२६। हे० ॥
आकारान्त आदि शब्दों से परे ङसि का लोप नहीं होता है।
(ग) भ्यसश्च हिः ॥८।३।१२७। हे० ॥
आकारान्त आदि शब्दों से परे ङसि एवं भ्यस् को हि नहीं होता है।

२. भ्यसस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-सुन्तो ॥८।३।९। हे० ॥
अ से परे भ्यस् को त्तो, दो, दु, हि, हिन्तो, सुन्तो आदेश होता है।

३. ङसः स्सः ॥८।३।१०। हे० ॥
अ से परे ङस् के स्थान पर स्स होता है ॥

४. डे म्मि ङेः ॥८।३।११। हे० ॥
अ से परे ङि को डित् एकार तथा म्मि होता है।

५. देखिए पि. प्रा. पारा नं ३६६ (ब)।

६. देखिए पि. प्रा. नं. ३७२।

७. जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ॥८।३।१२। हे० ॥
सूत्रोक्त प्रत्ययों के परे रहते अ को दीर्घ होता है।

८. टाण-शस्येत् ॥।३।१४। हे० ॥
टा के आदेश ण तथा शस् परे रहते अ को एकार होता है।

९. भिस्भ्यस्सुपि ॥८।३।१५। हे० ॥
भिस, भ्यस, सुप् परे रहते अ को ए होता है।

चतुर्थी	—	—
पञ्चमी	वच्छा, वच्छत्तो,[1] वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छाहिन्तो	वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि,[2] वच्छेहि, वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसुन्तो
षष्ठी	वच्छस्स	वच्छाण, वच्छाणं
सप्तमी	वच्छे, वच्छम्मि	वच्छेसु, वच्छेसुं
सम्बोधन	वच्छ, वच्छा, वच्छो	वच्छा

२२ इकारान्त एवं उकारान्त

विभक्तिप्रत्यय-परिवर्तन

विभक्ति	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्रथमा	सि (सु)	लोप	जस्	अउ, अओ,[3] णो,[4] लोप, अवो[5] (केवल उकारान्त शब्द के लिए)
द्वितीया	अम्	म्	शस्	णो, लोप
तृतीया	टा	णा[6]	भिस्	हि, हिँ, हिं
पञ्चमी	ङसि	णो,[7] त्तो, दो (ओ), दु (उ), हिन्तो	भ्यस्	त्तो, दो (ओ), दु (उ), हिन्तो, सुन्तो

---

१. दीर्घ-स्वर को संयुक्तव्यञ्जन से पूर्ववर्ती होने से ह्रस्व ।—देखिए पृ० ४, उद्ध० ३ ।

२. भ्यसि वा ॥८।३।१३। हे० ॥
भ्यस् को होनेवाले आदेश परे रहते अ को विकल्प से दीर्घ होता है ।

३. पुंसि जसो डउ डओ वा ॥८।३।२०। हे० ॥
पुं० में इ, उ से परे जस् को डित् अउ तथा अओ आदेश होते हैं ।

४. जस्-शसोर्णो वा ॥८।३।२२। हे० ॥
पुं० में इ, उ से परे जस् तथा शस् को विकल्प से णो आदेश होता है ।

५. वोतो डवो ॥८।३।२१। हे० ॥
पुं० में उदन्त से परे जस् को विकल्प से डित् अवो आदेश होता है ।

६. टो णा ॥८।३।२४।हे०॥
पुं० तथा नपुं० में इ, उ से परे टा को णा होता है ।

७. ङसि-ङसोः पुं-क्लीबे वा ॥८।३।२३ । हे० ॥
पुं० तथा नपुं० में वर्तमान इ,उ से परे ङसि तथा ङस् को विकल्प से णो होता है ।

षष्ठी	ङस्	णो, स्स	आम्	ण, णं
सप्तमी	ङि	म्मि	सुप्	सु, सुं
सम्बोधन	सि (सु)	लोप	जस्	अउ, अओ, णो, लोप

गिरि शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	गिरी[1]	गिरी, गिरिणो, गिरउ,-ओ
द्वितीया	गिरिं	गिरी,[2] गिरिणो
तृतीया	गिरिणा	गिरीहि, हिँ, हिं[3]
पञ्चमी	गिरिणो,-त्तो, गिरीओ,-उ,-हिन्तो	गिरित्तो, गिरीओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो
षष्ठी	गिरिणो,-स्स	गिरीण,-णं
सप्तमी	गिरिम्मि	गिरिसु,-सुं
सम्बोधन	गिरि, गिरी[4]	गिरी, गिरिणो, गिरउ,-ओ

तरु शब्द के रूप

प्र०	तरू	तरू, तरुणो, तरउ,-ओ,-वो
द्वि०	तरुं	तरू, तरुणो
तृ०	तरुणा	तरूहि,-हिँ,-हिं
प०	तरुणो,-त्तो, तरूओ,-उ,-हिन्तो	तरुत्तो, तरूओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	तरुणो,-स्स	तरूण,-णं
स०	तरुम्मि	तरूसु,-सुं
सम्बो०	तरु, तरू	तरू, तरुणो, तरउ,-ओ,-वो

२.३ ऋकारान्त

ऋकारान्त पुंलिंग शब्द दो भागों में विभक्त किए जाते हैं—१. विशेष्य वाचक २. विशेषणवाचक। प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के एकवचन को

---

१. अक्लीबे सौ ॥८।१।१९। हे० ॥
नपुं० को छोड़कर सि (सु) परे रहते इ, उ को दीर्घ होता है।

२. लुप्ते शसि ॥ ८।२।१८। हे०॥
शस् का लोप होने पर इ, उ को दीर्घ होता है।

३. इदुतो दीर्घः ॥ ८।३।१६। हे० ॥
इकार, उकार को भिस्, भ्यस्, सुप् परे रहते दीर्घ होता है।

४. ईदूतोर्ह्रस्वः ॥ ८।३।४२। हे० ॥
सम्बोधन में ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्द को ह्रस्व होता है।
उदाहरण—हे गामणि, हे वहु।

छोड़कर दोनों प्रकार के शब्दों के अन्तिम ऋ को विकल्प से उ हो जाता है तथा उनकी रूपावली तरु शब्द की भांति होती है।[1] विकल्पाभाव में विशेष्य-वाचक तथा विशेषणवाचक शब्दों के अन्तिम ऋ को क्रमशः अर तथा आर हो जाता है तथा उनकी रूपावली वच्छ शब्द के समान होती है।[2]

पिउ, पिअर (पितृ) शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्र०	पिआ[3], पिअरो	पिअरा, पिऊ, पिउणो, पिअउ,-ओ-वो
द्वि०	पिअरं	पिअरा,-रे, पिऊ, पिउणो
तृ०	पिअरेण,-णं पिउणा	पिअरेहि,-हिँ,-हिं, पिऊहि,-हिँ,,-हिं
प०	पिअरा, पिअरत्तो, पिअराओ,-उ, हि,-हिन्तो, पिउणो, पिउत्तो, पिऊओ,-उ,-हिन्तो	पिअरत्तो, पिअराओ,-उ,-हि,-हिन्तो,-सुन्तो, पिअरेहि,-हिन्तो -सुन्तो, पिउत्तो, पिऊउ,-ओ,-हिन्तो, सुन्तो
ष०	पिअरस्स, पिउणो,-स्स	पिअराण,-णं, पिऊण,-णं
स०	पिअरे, पिअरम्मि, पिउम्मि	पिअरेसु,-सुं, पिऊसु,-सुं
सम्बो०	पिअ[4], पिअरं	पिअरा, पिऊ, पिउणो, पिअउ,-ओ,-वो

दाउ, दायार (दातृ) शब्द के रूप तरु तथा वच्छ शब्द के समान होते हैं। प्रथमा विभक्ति के एकवचन में पिआ की भाँति दाया तथा सम्बोधन के एकवचन में पिअ की भाँति दाय रूप होते हैं।

---

१. ऋतामुदस्यमौसु वा ॥ ८।३।४४ । हे० ॥
सि (सु), अम्, औ को छोड़कर सि (सु) आदि प्रत्यय परे रहते ऋकारान्त शब्दों को विकल्प से उकारान्त हो जाता है।

२. (अ) आरः स्यादौ ॥ ८।३।४५ । हे० ॥
सि (सु) आदि परे रहते ऋ को आर आदेश होता है।
(ब) नाम्न्यरः ॥ ८।३।४७ । हे० ॥
संज्ञावाची ऋदन्त शब्दों के ऋ को सि (सु) आदि परे रहते अर आदेश होता है।

३. आ सौ न वा ॥ ८।३।४८ । हे० ॥
ऋदन्त को सि (सु) परे रहते विकल्प से आ होता है।

४. ऋतोद्वा ॥ ८।३।३९ । हे० ॥
सम्बोधन में सि (सु) परे रहते ऋकारान्त शब्द के अन्त स्वर को अ होता है।

२.४ हलन्त

राय (राजन्) शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्र०	राया[1]	राया,-णो[2], राइणो[3]
द्वि०	रायं, राइणं[4]	राया,-णो, राए, राइणो
तृ	राएण,-णं, राइणा[5], रण्णा[7]	राएहि,-हिँ,-हिं, राईहि,-हिँ, हिं[6]
प०	रायत्तो, राया,-ओ,-उ, -हि,-हिन्तो, राइणो रण्णो	रायत्तो, रायाओ,-उ,-हि,-हिन्तो,-सुन्तो, राएहि,-हिन्तो,-सुन्तो, राइत्तो, राईओ, -उ,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	रायस्स, राइणो रण्णो	रायाण,-णं, राईण,-णं
स०	राये, रायम्मि, राइम्मि	राएसु,-सुं, राईसु,-सुं
सुं०	राय, राया	राया,-णो, राइणो

---

१. राज्ञः ॥ ८।३।४९ । हे० ॥
राजन् शब्द के न् का लोप होने पर अन्तिम वर्ण को विकल्प से आत्व होता है ।

२. जस्-शस्-ङसि-ङसां णो ॥ ८।३।५० । हे० ॥
राजन् शब्द से परे सूत्रोक्त विभक्ति-प्रत्ययों को विकल्प से णो आदेश होता है ।

३. इर्जस्य णो-णा-ङौ ॥ ८।३।५२ । हे० ॥
राजन् शब्द से सम्बन्धित जकार के स्थान पर णो, णा तथा ङि परे रहते विकल्प से इकार होता है ।

४. इणममामा ॥ ८।३।५३ । हे० ॥
राजन् शब्द से सम्बन्धित अम् एवं आम् के साथ जकार को विकल्प से इण आदेश होता है ।

५. टा णा ॥ ८।३।५१ । हे० ॥
राजन् शब्द से परे टा को णा होता है ।

६. ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि ॥ ८।३।५४ । हे० ॥
भिस्, भ्यस्, आम् एवं सुप् परे रहते राजन् शब्द से सम्बन्धित जकार को विकल्प से ईकार होता है ।

७. आजस्य टा-ङसि-ङस्सु सणाणोष्वण् ॥८।३।५५। हे० ॥
राजन् शब्द से परे टा, ङसि, ङस्, को णा तथा णो आदेश हो जाने पर राजन् शब्द से सम्बन्धित आज को विकल्प से अण् आदेश होता है ।

आत्मन् शब्द अप्प एवं अप्पाण शब्दों में परिवर्तित हो जाता है। अप्प शब्द के रूप राजन् शब्द की तरह होते हैं जब कि अप्पाण शब्द के रूप वच्छ शब्द की तरह।[1] इतनी विशेषता है कि आत्मन् शब्द के तृतीया विभक्ति के एकवचन में अप्पणिआ तथा अप्पणइआ—ये दो रूप अधिक होते हैं।[2]

३. स्त्रीलिङ्ग शब्द

३.१ आकारान्त

विभक्तिप्रत्यय-परिवर्तन

विभक्ति	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्र०	सि (सु)	लोप	जस्	उ, ओ;[3] लोप
द्वि	अम्	म्	शस्	उ, ओ, लोप
तृ०	टा	अ, आ, इ, ए;[4]	भिस्	हि, हिँ, हिं
प०	ङसि	अ, आ, इ, ए, त्तो, ओ, उ, हिन्तो	भ्यस्	त्तो, ओ, उ, हिन्तो, सुन्तो
ष०	ङस्	अ, आ, इ, ए	आम्	ण, णं
स०	ङि	अ, आ, इ, ए	सुप्	सु, सुं
सम्बो०	सि (सु)	लोप	जस्	उ, ओ, लोप

---

१. पुंस्यन आणो राजवच्च ॥८।३।५६। हे० ॥
पुंलिङ्ग अन्नन्त शब्द के अन् को विकल्प से आण आदेश होता है। पक्ष में राजन् शब्द को तरह रूप होते हैं।

२. आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥८।३।५७। हे० ॥
आत्मन् शब्द से परे टा को विकल्प से णिआ तथा णइआ आदेश होते हैं।

३. स्त्रियामुदोतौ वा ।८।३।२७। हे० ॥
स्त्रीलिंग में वर्तमान संज्ञा शब्दों से परे जस् एवं शस् के स्थान पर विकल्प से उ एवं ओ तथा पूर्व स्वर को दीर्घ हो जाता है।

४. (अ) टा-ङस्-ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः ।८।३।२९। हे० ॥
स्त्रीलिंग शब्द से परे टा, ङस्, ङि के स्थान पर अ, आ, इ तथा ए होते हैं। ङसि को ये आदेश होने के साथ पूर्व-स्वर की दीर्घ विकल्प से होता है।

(ब) नात आत् ।८।३।३०। हे० ॥
स्त्रीलिंग में वर्तमान आकारान्त शब्द से परे टा, ङस्, ङि, ङसि को आ आदेश नहीं होता है।

माला शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्र०	माला	माला, मालाउ,-ओ
द्वि०	मालं[1]	" " "
तृ०	मालाअ,-इ,-ए	मालाहि,-हिँ,-हिं
प०	मालत्तो, मालाअ,-इ,-ए,-ओ,-उ,-हिन्तो	मालत्तो, मालाउ,-ओ,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	मालाअ,-इ,-ए	मालाण,-णं
स०	" " "	मालासु,-सुं
सम्बो०	माले[2], माला	माला,-उ,-ओ

३.२ इकारान्त तथा उकारान्त

बुद्धि शब्द के रूप

वि०	एकवचन	बहुवचन
प्र०	बुद्धी	बुद्धी, बुद्धीउ,-ओ
द्वि०	बुद्धि	" " "
तृ०	बुद्धीअ,-आ,-इ,-ए	बुद्धीहि,-हिँ-हिं
प०	बुद्धीअ,-आ,-इ,-ए, बुद्धीओ,-उ,-हिन्तो	बुद्धित्तो, बुद्धीओ,-उ,-हिन्तो; बुद्धीसुन्तो
ष०	बुद्धीअ,-आ-इ-ए	बुद्धीण,-णं
स०	" " " "	बुद्धीसु,-सुं
सम्बो०	बुद्धि, बुद्धी	बुद्धी, बुद्धीउ,-ओ

ईकारान्त, उकारान्त तथा ऊकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों के रूप बुद्धि शब्द की भाँति होते हैं। किन्तु ईकारान्त शब्दों के प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के सि (सु), जस् तथा शस् के स्थान पर विकल्प से आ भी होता है। जैसेः—गोरीआ।[3]

---

१. ह्रस्वोऽमि ॥८।३।३६। हे० ॥

स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द के अन्तिम स्वर को अम् परे रहते ह्रस्व होता है।

२. वाप ए ॥८।३।४१। हे० ॥

सम्बोधन में सि (सु) परे रहते आ को विकल्प से एत्व होता है।

३. ईतः सेश्चा वा ॥८।३।२८। हे० ॥

ईकारान्त (स्त्री०) शब्द से परे सि (सु), जस् तथा शस् को विकल्प से आ आदेश होता है।

३.३ ऋकारान्त

मातृ आदि स्त्रीलिंग शब्दों के ऋकार को सि (सु) आदि परे रहते आ आदेश हो जाता है। तत्पश्चात् उनकी रूपावली माला शब्द के समान होती है। माआ का अर्थ माता होता है। देवी के अर्थ में मातृ शब्द के ऋ को अरा आदेश होता है। माअरा=देवी।

४. नपुंसकलिंग शब्द

विभक्तिप्रत्यय-परिवर्तन

विभक्ति	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्र०	सि (सु)	म्[1]	जस्	णि, इँ, इं[2]
द्वि०	अम्	म्	शस्	,, ,, ,,
सम्बो०	सि (सु)	लोप[3]	जस्	,, ,, ,,

शेष विभक्तियों में प्रत्यय-परिवर्तन पुं० शब्द के प्रत्यय-परिवर्तन की भाँति होते हैं।

वण (वन) शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्र०	वणं	वणाणि, वणाइँ, वणाइं
द्वि०	,,	,, ,, ,,
सम्बो०	वण	,, ,, ,,

शेष रूप वच्छ शब्द के समान होते हैं।

दहि (दधि) शब्द के रूप

प्र०	दहिं	दहीणि,-इँ,-इं
द्वि०	,,	,, ,, ,,
सम्बो०	दहि	,, ,, ,,

---

१. क्लीबे स्वरान्म् सेः ॥८।३।२५। हे० ॥
नपुं० स्वरान्त शब्द से परे सि (सु) को म् होता है।

२. जस्-शस इँ-इं-णयः सप्राग्दीर्घाः ॥८।३।२६। हे० ॥
नपुं० शब्द से परे जस् तथा शस् को इँ, इ तथा णि आदेश होते हैं तथा उससे पूर्व में स्थित स्वर को दीर्घ होता है।

३. नामन्त्र्यात्सौ मः ॥८।३।३७। हे० ॥
नपुं० में सम्बोधन अर्थ में सि (सु) विभक्ति प्रत्यय को म् नहीं होता है।

शेष रूप गिरि शब्द के समान होते हैं।

महु (मधु) शब्द के रूप

प्र०	महुं	महूणि,-इँ,-इं
द्वि०	,,	,, ,, ,,
सम्बो०	महु	,, ,, ,,

शेष रूप तरु शब्द के समान होते हैं।

५. सर्वनाम शब्द

सव्व (सर्व) शब्द के रूप

(पुंलिङ्ग)

प्र०	सव्वो	सव्वे[1]
द्वि०	सव्वं	सव्वे, सव्वा
तृ०	सव्वेण,-णं	सव्वेहि,-हिँ,-हिं
प०	सव्वत्तो, सव्वा,-ओ,-उ,-हि,-हिन्तो	सव्वत्तो, सव्वा,-ओ,-उ,-हि,-हिन्तो, -सुन्तो, सव्वेहि,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	सव्वस्स	सव्वेसिं,[2] सव्वाण,-णं
स०	सव्वस्सिं,-म्मि,-त्थ[3],-हिं[4]	सव्वेसु,-सुं

(स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग)

सव्वा शब्द के रूप माला शब्द के समान होते हैं केवल षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में सव्वेसिं रूप भी होता है। सव्व (नपुं०) शब्द के रूप प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में वण शब्द की भाँति होते हैं। शेष सव्व (पुं०) शब्द के समान होते हैं।

---

१. अतः सर्वादेर्डेर्जसः ॥८।३।५८। हे० ॥
अकारान्त सर्व आदि शब्दों से परे जस् को डे (ए) आदेश होता है।

२. आमो डेसिं ॥८।३।६१। हे० ॥
अकारान्त सर्व आदि शब्दों से परे आम् को विकल्प से डेसिं (एसिं) आदेश होता है।

३. ङे स्सि-म्मि-त्थाः ॥८।३।५९। हे० ॥
अकारान्त सर्व आदि शब्द से परे ङि को स्सि, म्मि तथा त्थ आदेश होते हैं।

४. न वानिदमेतदो हिं ॥८।३।६०। हे० ॥
इदम् (इम) तथा एतद् (एअ) को छोड़कर शेष अकारान्त सर्व आदि शब्दों से परे ङि को विकल्प से हिं आदेश होता है।

ज (यद्) शब्द के रूप

यद् = ज (पुंलिङ्ग)

प्र०	जो	जे
द्वि०	जं	जे, जा
तृ०	जेण,-णं, जिणा[1]	जेहि,-हिँ-हिं
प०	जम्हा, जत्तो, जा,-ओ,-उ,-हि,- हिन्तो	जत्तो,-जाओ,-उ,-हि,-हिन्तो,-सुन्तो, जेहि,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	जस्स, जास[2]	जेसिं, जाण,-णं
स०	जाहे, जाला, जइआ[3] जहिं,-म्मि,-स्सि,-त्थ	जेसु,-सुं

यद् = जी, जा (स्त्रीलिंग)

प्र०	जा	जी,-आ,-उ,-ओ, जा,-उ,-ओ
द्वि०	जं	" "
तृ०	जीअ,-आ,-इ,-ए, जाअ,-इ,-ए,	जीहि,-हिँ,-हिं, जाहि,-हिँ,-हिं,
प०	जित्तो, जीअ,-आ,-इ,-ए,-ओ,-उ,-हिन्तो, जाअ,-इ,-ए जम्हा, जत्तो, जाओ,-उ,-हिन्तो	जत्तो, जाओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो, जीओ-उ,-हिन्तो,-सुन्तो,
ष०	जिस्सा, जीसे,[4] जीअ-आ,-इ,-ए, जाअ,-इ,-ए,	जेसिं, जाण.-णं
स०	जीअ,-आ,-इ,-ए, जाअ,-इ,-ए,	जीसु,-सुं, जासु,-सुं

---

१. इदमेतत्किं-यत्तद्भ्यष्टो डिणा ।।८।३।६९। हे० ।।
सूत्रोक्त अकारान्त शब्दों (इम, एअ, क, त, ज) से परे टा को डिणा (इणा) का आदेश विकल्प से होता है ।

२. किंयत्तद्भ्यो ङसः ।।८।३।६३। हे० ।।
सूत्रोक्त शब्दों से परे ङस् को विकल्प से डास (आस) आदेश होता है ।

३. ङेर्डाहे डाला इआ काले ।।८।३।६५। हे० ।।
काल के अर्थ में किम् यद् तथा तद् शब्दों से परे ङि को विकल्प से डाहे (आहे), डाला (आला) तथा इआ आदेश होते हैं ।

४. ईद्भ्यः स्सा से ।।८।३।६४ । हे० ।।
ईकारान्त किमादि (की आदि) शब्दों से परे ङस् को विकल्प से स्सा तथा से आदेश होते हैं ।

यद्=ज (नपुंसकलिंग)

प्र०	जं	जाणि,-इँ,-इं
द्वि०	"	" " "

शेष रूप पुंलिङ्ग शब्द के समान होते हैं।

त (तद्), क (किम्), एअ (एतद्), इम (इदम्) तथा अमु (अदस्) के निम्नलिखित अतिरिक्त रूप होते हैं :—

तद्=त (पुंलिङ्ग)

प्र०	सो[1]	—
प०	तो[2]	—
ष०	से[3]	तास,[4]-सिं

तद् = ता, तो (स्त्रीलिङ्ग)

प्र०	सा	—

किम्=क (पुलिङ्ग)

प०	कीस, किणो[5]	—
ष०	—	कास

किम्=क (पुंलिङ्ग)

प्र० द्वि०	किं[6]	—

---

१. तदश्च तः सो क्लीबे ॥८।३।८६। हे० ॥
तद् तथा एतद् के तकार को सि (नपुं० को छोड़कर) परे रहते स हो जाता हैं।

२. तदो डोः ॥८।३।६७। हे० ॥
तद् से परे ङसि को विकल्प से डो (ओ) आदेश होता है।

३. वेदं-तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ।८।३।८१। हे० ॥
इदम्, तद् तथा एतद् के साथ ङस् तथा आम् को विकल्प से क्रमशः से तथा सि आदेश हो जाते हैं।

४. कितद्भ्यां डासः ॥८।३।६२। हे० ॥
किम् तथा तद् शब्दों से परे आम् को विकल्प से डास (आस) आदेश हो जाता है।

५. किमो डिणो-डीसौ ॥८।३।६८। हे० ॥
किम् शब्द से परे ङसि को विकल्प से डिणो (इणो) तथा डीस (ईस) आदेश होते हैं।

६. किमः किं ॥८।३।८०। हे० ॥
नपुंसकलिङ्ग में किम्+सि एवं किम्+अम् को किं आदेश हो जाता है।

इदम्=इम (पुंलिङ्ग)

प्र०	अयं[1]	—
द्वि०	णं,[2] इणं[3]	णे
तृ०	णेण,-णं	णेहि,-हिँ,-हिं
ष०	अस्स[4], से	सिं
स०	अस्सि, इह[5]	—

इदम् = इमा (स्त्रीलिङ्ग)

प्र०	इमिआ	—

इदम् = इम (नपुंसकलिङ्ग)

प्र० द्वि०	इदं, इणं, इणमो[6]	—

अदस् = अमु (पुंलिङ्ग)

प्र०	अह[7]	—
स०	अमम्मि, इयम्मि[8]	—

---

१. पुं-स्त्रियोर्न वायमिमिआ सौ ॥८।३।७३। हे० ॥
इदम् शब्द को सि परे रहते पुंलिङ्ग में अयं तथा स्त्रीलिङ्ग में इमिआ आदेश विकल्प से हो जाता है।

२. णोम्-शस्टा-भिसि ॥८।३।७७। हे० ॥
इदम् शब्द को अम्, शस्, टा तथा भिस् परे रहते विकल्प से ण आदेश होता है।

३. अमेणम् ॥८।३।७८। हे० ॥
इदम् + अम् को विकल्प से इणं आदेश होता है।

४. स्सि-स्सयोरत् ॥ ८।३।७४। हे० ॥
स्सि तथा स्स परे रहते इदम् शब्द को विकल्प से अत् होता है।

५. ङेर्मेन हः ॥ ८।३।७५। हे० ॥
ङि परें रहते इम (इदम्) शब्द के म तथा ङि को विकल्प से ह आदेश होता है।

६. क्लीवे स्यमेदमिणमो च ॥ ८।३।७९। हे० ॥
इदम् + सि, अम् को इदं, इणमो, तथा इणं आदेश हो जाते हैं।

७. वादसो दस्य होनोदाम् ॥ ८।३।८७। हे० ॥
अदस् शब्द के दकार को सि परे रहते विकल्प से ह आदेश होता है।

८. म्मावयेऔ वा ॥ ८।३।८९। हे० ॥
अदस् शब्द के अन्तिम व्यञ्जन लुप्त हो जाने पर दकारान्त शब्द को म्मि परे रहते विकल्प से अय तथा इह आदेश होते हैं।

अदस् = अमु (स्त्रीलिङ्ग)

प्र०	अह	—

एतद् = एअ (पुंलिङ्ग)

प्र०	एस,[1] एसो, इणं इणमो	—
प०	एत्तो, एत्ताहे,[2] एत्थ[3]	—
ष०	से	सिं
स०	अयम्मि, ईयम्मि[4]	—

एतद्=एआ (स्त्रीलिङ्ग)

प्र०	एसा	—

युष्मद् शब्द के रूप[5] (तीनों लिङ्गो में)

प्र०	तुं, तुमं, तुवं, तुह	तुम्हे, तुम्ह
द्वि०	,, ,, ,, ,,	,, वो
तृ०	तए, तुमे	तुम्हेहि, तुज्झेहि
प०	तुमाओ, तुमाहिंतो, तुज्झ	तुम्हत्तो, तुज्झत्तो
ष०	तुव, तुह, ते, तुज्झ, तुम्ह	तुम्हाण-णं
स०	तुमे, तुमम्मि, तुहम्मि	तुमसु, तुम्हेसु, तुम्हासु

अस्मद् शब्द के रूप (तीनों लिङ्गों में)

प्र०	अहं, हं	अम्हे
द्वि०	ममं, मं	अम्हे

---

१. वैसेणमिणमो सिना ॥ ८।३।८५ । हे० ॥
एतद्+सि को विकल्प से एस, इणं तथा इणमो आदेश हो जाते हैं ।

२. वैतदो ङसेस्त्तो त्ताहे ॥ ८।३।८२ । हे० ॥
एतद् से परे ङसि को विकल्प से त्तो तथा त्ताहे आदेश हो जाता है ।

३. त्थे च तस्य लुक् ॥ ८।३।८३ । हे० ॥
त्थ, त्तो एवं त्ताहे परे रहते एतद् शब्द के तकार का लोप होता है ।

४. एरदीतौ म्मौ वा ॥ ८।३।८४ । हे० ॥
एतद् के एकार को म्मि (ङि) परे रहते विकल्प से अत् एवं ईत् होते हैं ।

५. यहाँ युष्मद् एवं अस्मद् शब्द की संक्षिप्त रूपावली दी जा रही है । विस्तृत रूपावली के लिए देखिए—८।३।९०-१०४ । हे० ॥ तथा ८।३।१०५-११७ । हे० ॥ (क्रमशः) ।

तृ०	मइ, मए	अम्हेहि
प०	ममत्तो, ममाओ, मज्झत्तो	अम्हत्तो, अम्हाहिन्तो, ममाहिन्तो
ष०	अम्ह, मज्झ, मम	अम्हाण,-णं, ममाण,-णं
स०	अम्हम्मि, ममाम्मि	अम्हेसु, अम्हासु, ममसु

६. संख्यावाचक शब्द

प्राकृत बोलियों में एक के लिए प्रायः एक्क का प्रयोग होता है। स्त्रीलिङ्ग में एक्का रूप होता है। इनकी रूपावली क्रमशः सव्व तथा सव्वा की भाँति होती है। द्वि, त्रि, चतुर्, पञ्चन्, षष्, सप्तन् आदि को प्राकृत के तीनों लिङ्गों में क्रमशः दु, ति, चउ, पंच, छ, सत्त, आदि हो जाता है। इनके रूप वहुवचन में ही चलते हैं।

	दु (द्वि) शब्द के रूप	ति (त्रि) शब्द के रूप
प्र० द्वि०	दुवे, दोण्णि,[1] वेण्णि	तिण्णि[2]
तृ०	दोहि,-हिँ,-हिं, वेहि,-हिँ,-हिं[3]	तीहि,-हिँ, हिं[4]
प०	दुत्तो, दोओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो, वेओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो	तित्तो, तीओ,-उ,-हिन्तो,-सुन्तो
ष०	दोण्हं, दुण्हं, वेण्हं	तिण्ह, तिण्हं
स०	दोसु,-सुं, वेसु,-सुं	तीसु,-सुं

	चउ (चतुर्) शब्द के रूप	पञ्च (पञ्चन्) शब्द के रूप
प्र० द्वि०	चत्तारो, चउरो, चत्तारि[5]	पञ्च
तृ०	चऊहि,-हिँ,-हिं	पञ्चेहि,-हिँ,-हिं

इसी प्रकार अन्य संख्यावाचक शब्दों के रूप होते हैं।

---

१. दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्-शसा ॥ ८।३।१२०। हे० ॥
जस् तथा शस् सहित द्वि शब्द को दुवे, दोण्णि तथा वेण्णि आदेश होते हैं।

२. द्वेर्दो वे ॥ ८।३।११९। हे० ॥
तृतीया आदि विभक्तियों में द्वि को दो तथा वे आदेश होते हैं।

३. त्रेस्तिण्णिः ॥ ८।३।१२१। हे० ॥
जस् तथा शस् सहित त्रि शब्द को तिण्णि आदेश होता है।

४. त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ८।३।११८। हे० ॥
तृतीया आदि विभक्तियों में त्रि शब्द को ती आदेश होता है।

५. चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ ८।३।१२२। हे० ॥
जस् तथा शस् के साथ चतुर शब्द को चत्तारो, चउरो तथा चत्तारि आदेश होवे हैं।

प०	चउत्तो, चऊओ....आदि	पञ्चत्तो, पञ्चाओ....आदि
ष०	चउण्ह,-ह्णं[1]	पञ्चण्ह,-ह्णं
स०	चऊसु,-सुं	पञ्चसु,-सुं

चौदहवाँ अध्याय

धातु-रूप

१ **प्रमुख विशेषताएँ**[2]

(१) शब्द-रूपों की भाँति द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग, जैसे—हसतः=हसन्ति, अनुभवतः=अणुहोन्ति ।

(२) अ विकरण जोड़कर व्यञ्जनान्त धातु का स्वरान्त धातु में परिवर्तन, जैसे—हस्=हस, भण् = भण ।

(३) भ्वादिगण के धातुरूपों की ओर अन्य गणों के धातुरूपों का झुकाव, जैसे—तनोति=तणइ, रूष्यति=रूसइ ।

(४) प्रायः परस्मैपद का प्रयोग, जैसे—लप्स्यते = लहिस्सइ, सहे = सहेमि, गम्यते=गच्छीअदि आदि ।

(५) काल की दृष्टि से वर्तमान-काल (लट् लकार), भूत-काल (लिट् आदि), भविष्यत्-काल (लृट्) तथा अन्य तीन प्रकारों में आज्ञार्थक (लोट्), विध्यर्थक (विधि-लिङ्) एवं क्रियातिपत्ति (लृङ्)—में धातुरूपावली दृष्टिगोचर होती है। आज्ञार्थक एवं विध्यर्थक रूपावली प्रायः समान होती है।

(६) भूत-काल के लिए प्रायः सहायक क्रियाओं के साथ कृदन्त रूपों को व्यवहार में लाया जाता है, जैसे—वहन्तो आसि ।

---

१. संख्याया आमो ण्ह ण्हं ॥ ८।३।१२३ । हे० ॥
संख्या शब्दों से परे आम् को ण्ह तथा ण्हं आदेश होते हैं।

२. देखिए पि० प्रा० पारा नं० ४५२ एवं Introduction to Prakrit, page 42 (113) ।

२. कर्तृवाच्य

२.१ वर्तमानकाल

धातु-प्रत्यय

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	संस्कृत	प्राकृत	संस्कृत	प्राकृत
प्रथम	तिप् त	इ, ए[1]	झि, झ	न्ति, न्ते, इरे[2]
मध्यम	सिप्, थास्	सि, से[3]	थ, ध्वम्	इत्था, ह[4]
उत्तम	मिप्, इट्	मि[5]	मस्, महिङ्	मो, मु, म[6]

हस (हस्) धातु के रूप

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	हसइ, हसए	हसन्ति, हसन्ते, हसिरे
मध्यम	हससि, हससे	हसित्था, हसह
उत्तम	हसामि,[7] हसमि	हसिमो,-मु,-म; हसामो,-मु,-म;[8] हसमो,-मु,-म

अदन्त धातु के अकार को वर्तमान काल परे रहते विकल्प से एकार होता

---

१. त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥ ८।३।१३९। हे० ॥
त्यादि विभक्तियों के आदि त्रय (प्रथम पुरुष) के आदि (एकवचन) के प्रत्यय (तिप्, त) के स्थान में इच् (इ) एच् (ए) होते हैं।

२. बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ ८।३।१४२। हे० ॥
प्रथम-पुरुष बहुवचन (झि, झ) को न्ति, न्ते, इरे होते हैं।

३. द्वितीयस्य सि से ॥ ८।३।१४०। हे० ॥
मध्यम पुरुष के एकवचन (सिप्, थास्) को सि, से होते हैं।

४. मध्यमस्येत्था-हचौ ॥ ८।३।१४३। हे० ॥
मध्यमपुरुष बहुवचन (थ, ध्वम्) को इत्था, ह होते हैं।

५. तृतीयस्य मिः ॥ ८।३।१४१। हे० ॥
उत्तमपुरुष के एकवचन (मिप्, इट्) को मि होता है।

६. तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ ८।३।१४४। हे० ॥
उत्तमपुरुष के बहुवचन (मस्, महिङ्) को मो, मु, म होते हैं।

७. मौ वा ॥ ८।३।१५४। हे० ॥
अदन्त धातु के अ को मि परे रहते विकल्प से आ होता है

८. इच्च मो-मु-मे वा ॥ ८।३।१५५। हे० ॥
अदन्त धातु के अ को मो, मु, म परे रहते विकल्प से इ तथा आ होते हैं।

हैं। तब हसेइ, हसेसि आदि रूप होते हैं।[१] इसके अतिरिक्त अदन्त धातु से धातु-प्रत्ययों को विकल्प से ज्ज तथा ज्जा हो जाते हैं।[२] तब सभी पुरुषों एवं सभी वचनों में हसेज्ज तथा हसेज्जा ये दो रूप होते हैं।

हो (भू) धातु के रूप

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	होइ[३]	होन्ति, होन्ते, होइरे
मध्यम	होसि	होइत्था, होह
उत्तम	होमि	होमो,-मु,-म

स्वरान्त धातु से परे वर्तमान अर्थ में विहित प्रत्यय होने पर उन (प्रकृति-प्रत्यय) के बीच में विकल्प से ज्ज तथा ज्जा होते हैं इसके अतिरिक्त प्रत्यय के स्थान पर भी विकल्प से ज्ज तथा ज्जा होते हैं।[४] तब होइ के स्थान पर होज्जइ, होज्जाइ, होज्ज तथा होज्जा ये चार रूप भी होते हैं।

२.२ भूतकाल

धातु-प्रत्यय

सी, ही ,हीअ (केवल स्वरान्त धातु को)[५]

---

१. वर्तमाना-पञ्चमी-शतृषु वा ।। ८।३।१५८। हे० ।।
वर्तमानकाल, पञ्चमी विभक्ति तथा शतृ प्रत्यय परे रहते अ को विकल्प से ए होता है।

२. (क) वर्तमान-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ।। ८।३।१७७। हे० ।।
वर्तमान, भविष्यत् तथा विध्यादि अर्थों में विहित धातु-प्रत्ययों के स्थान पर विकल्प से ज्ज तथा ज्जा होते हैं।
(ख) ज्जा-ज्जे ।। ८।३।१५९। हे० ।।
धातु प्रत्यय के स्थान पर आदेश रूप से होने वाले ज्ज तथा ज्जा से पूर्ववर्ती अ को ए हो जाता है।

३. अत एवैच् से ।। ८।३।१४५। हे० ।।
अकारान्त धातु से ही परे एच् तथा से आदेश होते हैं।

४. मध्ये च स्वरान्ताद्वा ।। ८।३।१७८। हे० ।।
स्वरान्त धातु से वर्तमान, भविष्यत् तथा विध्यर्थक अर्थों में विहित धातु प्रत्यय परे रहते उन (प्रकृति तथा प्रत्यय) के बीच में तथा कभी-कभी धातुप्रत्ययों के स्थान पर विकल्प से ज्ज तथा ज्जा हो जाते हैं।

५. सी ही हीअ भूतार्थस्य ।। ८।३।१६२। हे० ।।
स्वरान्त धातुओं से भूतार्थ में विहित प्रत्यय को सी, ही, हीअ आदेश होते हैं।

ईअ (केवल व्यञ्जनान्त धातु को)[1]

हो (भू) धातु के रूप

प्रथमपुरुष एकवचन—होसी, होही तथा होहीअ।

हस धातु के रूप

प्रथमपुरुष एकवचन—हसीअ

२.३ भविष्यत्काल

धातु-प्रत्यय

(१)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	हिइ,[2] हिए	हिन्ति, हिन्ते, हिइरे
मध्यम	हिसि, हिसे	हित्था, हिह
उत्तम	स्सं[3], स्सामि[4]	स्सामो,-मु,-म, हामो,-मु,-म,
	हामि, हिमि	हिमो,-मु,-म, हिस्सा, हित्था[5]

(२)

प्रथम	स्सइ[6]	स्सन्ति

---

१. (अ) व्यञ्जनादीअः ॥८।३।१६३। हे० ॥
व्यञ्जनान्त धातुओं से भूतार्थ में विहित प्रत्यय को ईअ आदेश होता है।
(ब) उक्त प्रत्यय प्रथमपुरुष एकवचन के प्रतीत होते हैं क्योंकि हमें साहित्य में प्रथमपुरुष बहुवचन के लिए इंसु, अंसु प्रत्यय मिलते हैं। जैसे—गच्छिंसु गच्छंसु। —देखिए हे० (वैद्य) की टिप्पणी पृ० ६५६।

२. भविष्यति हिरादिः ॥ ८।३।१६६। हे० ॥
भविष्यत् अर्थ में विहित प्रत्यय के पूर्व हि विकरण का प्रयोग होता है।

३. मेः स्सं ॥ ८।३।१६९। हे० ॥
भविष्यत् काल में धातु से परे मि आदेश के स्थान पर विकल्प से स्सं का प्रयोग होता है।

४. मि-मो-मु-मे स्सा हा न वा। ८।३।१६७। हे० ॥
भविष्यत् अर्थ में मि, मो, मु, म परे रहते उनके पूर्व स्सा तथा हा विकल्प से होते हैं।

५. मो मु-मानां हिस्सा हित्था ॥ ८।३।१६८। हे० ॥
भविष्यत् काल में धातु से परे मो, मु, म को विकल्प से हिस्सा, हित्था आदेश होते हैं।

६. स्स च।। ६।२२। मा० ॥
भविष्यत् अर्थ में स्स (विकरण) भी होता है।

मध्यम	स्ससि	स्सह
उत्तम	स्सामि	स्सामो-मु,-म

हस धातु के रूप

(१)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	हिसिहिइ[1],-ए	हसिहिन्ति,-न्ते,-रे
मध्यम	हसिहिसि-से	हसिहित्था,-ह
उत्तम	हसिस्सं, हसिस्सामि हसिहामि, हसिहिमि	हसिस्सामो,-मु,-म, हसिहामो,-मु,-म हसिहिमो,-मु,-म, हसिहित्था,-स्सा

पक्ष में हस के सकारवर्ती अ को ए हो जाता है और तब रूप हसेहिइ, हसेहिसि—इस तरह चलते हैं।

(२)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	हसिस्सइ	हसिस्सन्ति
मध्यम	हसिस्ससि	हसिस्सह
उत्तम	हसिस्सामि	हसिस्सामो,-मु, म

हो (भू) धातु के रूप

(१)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	होहिइ	होहिन्ति, होहिन्ते, होहिरे
मध्यम	होहिसि	होहित्था, होहिह
उत्तम	होस्सं, होस्सामि होहामि, होहिमि	होस्सामो,-मु,-म, होहामो,-मु,-म, होहिमो,-मु,-म,-होहिस्सा, होहित्था

(२)

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	होस्सइ	होस्सन्ति
मध्यम	होस्ससि	होस्सइ
उत्तम	होस्सामि	होस्सामो,-मु,-म

---

१. एच्च क्त्वा-तुम्-तव्य-भविष्यत्सु ।। ८।३।१५७ । हे० ।।
क्त्वा, तुम्, तव्य तथा भविष्यत्-काल में विहित प्रत्यय परे रहते अ को इ तथा ए होते हैं।

२.४ विध्यर्थक तथा आज्ञार्थक

धातु-प्रत्यय

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	उ[1]	न्तु[2]
मध्यम	लुक्, सु, इज्जसु इज्जहि, इज्जे,[3] हि[4]	ह
उत्तम	मु	मो

हस (धातु) के रूप

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	हसउ	हसन्तु
मध्यम	हस, हससु, हसहि हसेज्जसु, हसेज्जहि, हसेज्जे	हसह
उत्तम	हसामु, हसिमु, हसमु	हसामो, हसिमो, हसमो

पक्ष में सभी पुरुषों तथा सभी वचनो में—हसेज्ज; हसेज्जा।

हो (भू) धातु के रूप

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	होउ	होन्तु
मध्यम	होहि, होसु	होमो
उत्तम	होमु	होमो

---

१. दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिंस्त्रयाणाम् ॥ ८।३।१७३ । हे० ॥
विध्यादि अर्थ में तीनों पुरुषों के एकवचन के प्रत्ययों को क्रमशः दु, सु, मु आदेश होते हैं।

२. बहुषु न्तु ह मो ॥ ८ ।३।१७६ । हे० ॥
विध्यादि अर्थ में तीनों पुरुषों के बहुवचन के प्रत्ययों को क्रमशः न्तु ह, मो होते हैं।

३. अत इज्जस्विज्जहीज्जे-लुको वा ॥ ८॥१७५ । हे० ॥
अ से परे सु को विकल्प से इज्जसु, इज्जहि, इज्जे होते हैं अथवा सु का लोप होता है।

४. सोर्हिर्वा ॥ ८।३।१७४ । हे० ॥
पूर्वसूत्र (दु सु मु...) से विहित सु को विकल्प से हि होता है।

इसके अतिरिक्त धातु एवं धातुप्रत्यय के बीच में विकल्प से ज्ज तथा ज्जा होने पर होउ को होज्जउ तथा होज्जाउ, होन्तु को होज्जन्तु आदि रूप हो जाते हैं। धातु-प्रत्ययों के स्थान पर ज्ज तथा ज्जा हो जाने पर होज्ज, होज्जा रूप होते हैं।

२.५ क्रियातिपत्ति

धातु-प्रत्यय

सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में—ज्ज, ज्जा, न्त, माण[1]

हस धातु के रूप

सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में—हसेज्ज, हसेज्जा, हसन्तो, हसमाणो।

हो (भू) धातु के रूप

सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में—होज्ज, होज्जा, होन्तो, होमाणो।

२.६ अनियमित-धातुरूप

अस धातु

(१) वर्तमानकाल

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
प्रथम	अत्थि[2]	अत्थि
मध्यम	अत्थि, सि[3]	अत्थि
उत्तम	अत्थि, म्हि[4]	अत्थि, म्हो, म्ह,

---

१. (अ) क्रियातिपत्तेः ॥ ८।३।१७९। हे० ॥

क्रियातिपत्ति में प्रत्ययों को ज्ज, ज्जा होते हैं।

(ब) न्त-माणौ ॥ ८।३।१८०। हे० ॥

क्रियातिपत्ति में प्रत्ययों को न्त, माण आदेश होते हैं।

२. अत्थिस्त्यादिना ॥ ८।३।१४८। हे० ॥

त्यादि प्रत्ययों के साथ अस धातु को अत्थि आदेश होता है।

३. सिनास्तेः सिः ॥ ८।३।१४६। हे० ॥

सि के साथ अस धातु को सि आदेश होता है।

४. मि-मो-मैर्म्हि -म्हो-म्हा वा ॥ ८।३।१४७। हे ॥

मि, मो, म के साथ अस धातु को विकल्प से क्रमशः म्हि, म्हो, तथा म्ह हो जाते हैं।

(२) भूत-काल

सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में—आसि, अहेसि ।[1]

(३) भविष्यत्-काल विध्यर्थक तथा आज्ञार्थक

सभी पुरुषों तथा सभी वचनों में—अत्थि ।

२.७ प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप

धातु से प्रेरणार्थक क्रिया-रूप बनाने के लिए णि के स्थान पर अ, ए, आव आवे—ये चार आदेश होते हैं। जैसे—हासइ, हासेइ, हसावइ; हसावेइ ।[2]

३. कर्म तथा भाववाच्य

वर्तमान-काल, भूत-काल, विध्यर्थक एवं आज्ञार्थक में कर्म तथा भाववाच्य रूपों के लिए तत् तद् धातु-प्रत्ययों के पूर्व ईअ तथा इज्ज प्रत्यय जोड़े जाते हैं।[3] जैसे—हसीअइ, हसिज्जइ आदि। भविष्यत् काल एवं क्रियातिपत्ति में कर्म तथा भाव-वाच्य के रूप कर्तृवाच्य के समान होते हैं।[4]

३.१ प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप

मूल धातु में आवि प्रत्यय जोड़ने या तद्गत अन्तिम अ को आ कर देने के बाद कर्म तथा भाव-वाच्य के प्रत्यय ईअ एवं इज्ज जोड़ने से प्रेरणार्थक कर्म तथा भाव-वाच्य के रूप बनाते हैं। जैसे—हसावीअइ, हसाविज्जइ, हसीअइ, हासिज्जइ आदि।

---

१. तेनास्तेरास्यहेसी ॥ ८।३।१६४ । हे॰ ॥
भूतार्थ प्रत्यय के साथ अस धातु को आसि तथा अहेसि आदेश हो जाते हैं।

२. (क) णेरदेदावावे ॥८।३।१४९ । हे॰ ॥
णि के स्थान पर अत्, एत्, आव तथा आवे ये चार आदेश होते हैं।

(ख) अदेल्लुक्यादेरत आः ॥ ८।३।१५३ । हे॰ ॥
णि को अत् या एत् आदेश होने पर या णि का लोप होने पर आदि अ को आ होता है।

३ ईअ-इज्जौ क्यस्य ॥ ८।३।१६० । हे॰ ॥
कर्म एवं भाव-वाच्य में प्रयुक्त क्य (य) को ईय एवं इज्ज आदेश होते हैं।

४. चूंकि उपर्युक्त प्रत्यय भविष्यत्काल एवं क्रियातिपत्ति में प्रयुक्त नहीं होते हैं। अतः उनके रूप कर्तृ-वाच्य के समान होते हैं।

भाग २—संकलन

१. गाथावली[1]

प्रथम शतक गाथा २ — अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
कामस्स तत्ततन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥१॥

गाथा ९१ — णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति ।
ते व्विअ महिलाणं पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ ॥२॥

द्वितीय शतक गाथा ६१ — उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

प्रथम शतक गाथा २ — अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्ति ते कथं न लज्जन्ते ॥१॥

गाथा ९१ — छादयन्ति ये प्रभुत्वं कुपिता दासा इव ये प्रसादयन्ति ।
त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः ॥२॥

द्वितीय शतक गाथा ६१ — उर्ध्वाक्षः पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिरं पथिकः ।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तन्वीमपि तनूकरोति ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रथम शतक गाथा २ — जो अमृतरूप प्राकृत-काव्य को पढ़ना और सुनना नहीं जानते हैं और काम (शृङ्गार) की तत्त्वचिन्ता करते हैं, वे लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥१॥

गाथा ९१ — जो अपने प्रभुत्व को छिपाते हैं, (तथा) जो कुपित (प्रियतमा) को दासों के समान (आचरणकर) प्रसन्न कर लेते हैं, वे ही महिलाओं के प्रिय हैं। शेष बेचारे पति ही होते हैं (प्रेमी नहीं) ॥२॥

द्वितीय शतक गाथा ६१ — जैसे-जैसे पथिक आँखें ऊपर उठाकर (और) अंगुलियों को विरल (छिद्र युक्त) करके देर तक जल पीता है, वैसे-वैसे प्याऊवाली भी पतली धारा को भी और अधिक पतली करती चली जाती है ॥३॥

---

१. गाथासप्तशती (पहली शताब्दी) से उद्धृत

गाथा ७९ — तीअ मुहाहिँ तुह मुहं तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि ।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥४॥

तृतीय शतक गाथा २४ — ता मज्झिमो व्विअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ वि ण कज्जं ।
जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥५॥

गाथा ३४ — जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिया दिट्ठी ।
तस्स तहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥६॥

चतुर्थ शतक गाथा ३२ — सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि ।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाण जेक्कारा ॥७॥

गाथा ९७ — धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ७९ — तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।
हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥४॥

तृतीय शतक गाथा २४ — तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यामपि न कार्यम् ।
यथा दृष्टस्तापयति खलस्तथैव सुजनोऽदृश्यमानः ॥४॥

गाथा ३४ — यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥६॥

चतुर्थ शतक गाथा ३२ — सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणमयसि ।
हास्यकटाक्षोन्मिश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥७॥

गाथा ९७ — धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते ।
निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

गाथा ७९ — अत्यन्त कठिन कार्य करनेवाला (यह) तिलक उसके मुख से तुम्हारे मुखपर और तुम्हारे मुख से मेरे चरण में हाथों-हाथ पहुँच गया ॥४॥

तृतीय शतक गाथा २४ — इसलिए मध्यम व्यक्ति ही अच्छा है । दुर्जन एवं सज्जन दोनों से ही प्रयोजन नहीं । (क्योंकि) जिस प्रकार दिखनेवाला दुष्ट कष्ट देता है, उसी प्रकार न दिखनेवाला सज्जन ॥५॥

गाथा ३४ — उसके अङ्गपर जिसकी जहाँ पर पहले दृष्टि पड़ी उसकी वहीं पर स्थिर रह गयी । (अतः) सर्वाङ्ग किसी के भी द्वारा नहीं देखा गया ॥६॥

चतुर्थ शतक गाथा ३२ — बेटा ! सूर्य के बहाने तुम किसे हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहे हो ? देवताओं के जयकार (तो) मुस्कान एवं कटाक्ष से युक्त नहीं होते ॥७॥

गाथा ९७ — वे महिलायें धन्य हैं जो प्रियतम को स्वप्न में भी देख लेती हैं । उसके बिना नींद ही नहीं आती है, स्वप्न कौन देखती है ? ॥८॥

पञ्चम शतक गाथा ५३	सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं। वड्ढन्ति करठिआ व्विअ वलआ दइए पउट्ठम्मि ॥९॥
षष्ठ शतक गाथा ६६	गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स। जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥१०॥
गाथा ९२	एक्कच्चिअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ। अणिमिसणअणो सअणो जीए देवीकओ गामो ॥११॥
सप्तम शतक गाथा ५३	पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द। अण्णत्त खविअसव्वरि णहभूसण दिणवइ णमो दे ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

पञ्चम शतक गाथा ५३	सखि कथय सद्भावेन पृच्छामः किमशेषमहिलानाम्। वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥९॥
षष्ठ शतक गाथा ६६	गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य। जलधर लम्बालकिकां माऽरे मारयिष्यसि वराकीम् ॥१०॥
गाथा ९२	एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति। अनिमिषनयनैः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः ॥११॥
सप्तम शतक गाथा ५३	प्रत्यूषागत रञ्जितदेह प्रियालोक लोचनानन्द। अन्यत्र क्षपितशर्वरीक नभो (नख)-भूषण दिनपते नमस्ते ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

पञ्चम शतक गाथा ५३	सखि! सद्भाव से पूछते हैं, बताओ—क्या प्रिय के प्रवास चले जाने पर समस्त महिलाओं के कङ्गन हाथ में पड़े-पड़े ही बढ़ जाते हैं? ॥९॥
षष्ठ शतक गाथा ६६	हे जलधर! लौह-हृदयवाले मेरे ऊपर ही अपनी समस्त शक्ति के साथ गर्जन कर। अरे! बेचारी लम्बे बालोंवाली को मत मारना ॥१०॥
गाथा ९२	एक ग्राम-नायक की पुत्री ही (ऐसा) रूप-गुण धारण करती है (कि) जिस (पुत्री) के द्वारा पलक न झुकाने वाला समस्त ग्राम देवतारूप बना दिया गया ॥११॥
सप्तम शतक गाथा ५३	सूर्य के पक्ष में—प्रातःकाल आये हुए! रँगे हुए शरीरवाले! आलोक के प्रिय! नयनों को आनन्द देनेवाले! अन्यत्र रात्रि वितानेवाले! आकाश के भूषण! दिनपते! आपको नमस्कार है ॥१२॥

नायक के पक्ष में—(सौत के घर से) प्रातःकाल आये हुए! (सौत के लाक्षारस आदि लगने से) रंगे हुए शरीरवाले प्रिया (सौत) को आलोकस्वरूप! (सौत के) नयनों को आनन्द देनेवाले! अन्यत्र (सौतके घर) रात्रि विताने वाले! नखभूषण! (अर्थात् सौत के नखचिह्नों से अलङ्कृत शरीरवाले!) दिनपते अर्थात् दिन भर के ही पति! आपको नमस्कार है ॥१२॥

२. वानर-प्रोत्साहनम्[1]

आश्वासक ३

७ तुम्ह च्चिअ एस भरो आणामेत्तप्फलो पहुत्तणसद्दो।
अरुणो छाआवहणो विसअं विअसन्ति अप्पणा कमलसरा ॥ १ ॥

१० ते विरला सप्पुरिसा जे अभणेन्ता घडेन्ति कज्जालावे।
थोअ च्चिअ ते वि दुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा देन्ति फलं ॥ २ ॥

१८ अव्वोच्छिण्णपसरिओ अहिअं उद्धाइ फुरिअसूरच्छाओ।
उच्छाहो सुभडाणं विसमक्खलिओ महाणईण व सोत्तो ॥ ३ ॥

(संस्कृतच्छाया)

आश्वासक ३

७ युष्माकमेवैष भर आज्ञामात्रफलः प्रभुत्वशब्दः।
अरुणः छायावहनो विशदं विकसन्त्यात्मना कमलसरांसि ॥१॥

१० ते विरलाः सत्पुरुषा येऽभणन्तो घटयन्ति कार्यालापान्।
स्तोका एव तेऽपि द्रुमा येऽज्ञातकुसुमनिर्गमा ददति फलम् ॥२॥

१८ अव्यवच्छिन्नप्रसरितोऽधिकमुद्धावति स्फुरितशूर(सूर्य)च्छायः।
उत्साहः सुभटानां विषमस्खलितो महानदीनामिव स्रोतः ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

आश्वासक ३

७ यह तुम्हारा ही उत्तरदायित्व है। प्रभुत्व शब्द आज्ञामात्र फलवाला होता है। सूर्य कान्ति (प्रभा) को पहुँचानेवाला होता है, (किन्तु) कमल-सरोवर अपने-आप विशदरूप से खिल जाते हैं ॥ ११ ॥

१० वे सत्पुरुष विरले (थोड़े) हैं जो विना कहे ही कार्यों को निष्पन्न करते हैं। वे वृक्ष भी थोड़े हो हैं जो पुष्पोद्गम को बिना प्रकट किये ही फल देते हैं ॥ १२ ॥

१८ बिना रुकावट के फैलनेवाला तथा वीरों की कान्ति स्फुरित हो रही है जिसमें ऐसा सुभटों का उत्साह निरन्तर बहनेवाले तथा सूर्य की आभा से चमकते हुए महानदियों के प्रवाह के समान संकट या विषम-स्थल पर स्खलित होने पर और अधिक बढ़ता है ॥ १३ ॥

---

१. रावणवहो (पाँचवी शताब्दी) से उद्धृत

१९ माणेण परिट्ठविआ कुलपरिवाडिघडिआ अणोणअउव्वा ।
चिन्तेउं पि ण तीरइ ओहुव्वन्ती परेण णिअअच्छाया ॥ ४ ॥

२१ आढिअसमराअमणा वसणम्मि वि ऊसवे अ समराअमणा ।
अवसाइअविसमत्था धीर च्चिअ होन्ति संसए वि समत्था ॥५ ॥

२२ ववसाअसप्पिआसा कह ते हत्थट्ठिअं ण पाहिन्ति जसं ।
जे जीविअसंदेहे विसं भुअङ्ग व्व उव्वमन्ति अमरिसं ॥ ६ ॥

२६ जो लङ्घिज्जइ रविणो जो अ खविज्जइ खआणलेण वि बहुसो ।
कह सो उइअपरिहवो दुत्तारो त्ति पवआण भण्णइ उअही ॥ ७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

१९ मानेन परिस्थापिता कुलपरिपाटिघटिता अनवनतपूर्वा ।
चिन्तयितुमपि न तीर्यते अवधूयमाना परेण निजकच्छाया ॥४॥

२१ आदृतसमरागमना व्यसने अप्युत्सवे च समरागमनसः ।
अवसादितविषमार्था धीरा एव भवन्ति संशयेऽपि समर्थाः ॥५॥

२२ व्यवसायसपिपासाः कथं ते हस्तस्थितं न पास्यन्ति यशः ।
ये जीवितसन्देहे विषं भुजङ्गा इवोद्वमन्त्यमर्षम् ॥६॥

२६ यो लङ्घ्यते रविणा यश्च क्षप्यते क्षयानलेनापि बहुशः ।
कथं स उचितपरिभवो दुस्तार इति प्लवगानां भण्यत उदधिः ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

१९ मान से परिस्थापित, वंश-परम्परा से निर्मित तथा पहले कभी अवनत न होनेवाली अपनी प्रतिष्ठा का शत्रुओं द्वारा तिरस्कृत होना सोचा भी नहीं जा सकता है (सहना तो दूर रहा) ॥ ४ ॥

२१ समर के आगमन में आदर व्यक्त करने वाले, विपत्ति एवं उत्सव में समभाव धारण करने वाले, विषम परिस्थिति को विनष्ट करनेवाले, धीर व्यक्ति संशय में भी समर्थ ही होते हैं ॥ ५ ॥

२२ व्यवसाय के प्यासे वे लोग हाथ में स्थित यश का पान क्यों नहीं करेंगे जो जीवन के विषय में सन्देह उपस्थित होने पर उसी तरह क्रोध का उद्वमन करते हैं जैसे सर्प विष का ॥ ६ ॥

२६ जो सूर्य के द्वारा लांघा जाता है तथा जो वड़वानल के द्वारा भी प्रायः क्षीण किया जाता है ऐसा अनादर को प्राप्त समुद्र वानरों के लिए पार करना कठिन है ऐसा कैसे कहा जाता है ॥ ७ ॥

२७ चिन्तिज्जउ दाव चिरं कुलववएसक्खमं वहन्ताण जसं।
लज्जाइ समुद्दस्स अ दोण्ह वि किं होइ दुक्करं बोलेउं ॥८॥

२९ बन्धवणेहब्भहिओ होइ परो वि विणएण सेविज्जन्तो।
किं उण कओवआरो णिक्कारणणिद्धबन्धवो दासरही ॥९॥

३८ मुक्कसलिला जलहरा अहिणअदिण्णप्फला अ पाअवणिवहा।
लहुआ वि होन्ति गरुआ समरमुहोहरिअमण्डलग्गा भुआ ॥१०॥

३९ दप्पं ण मुअन्ति भुआ पहरणकज्जसुलहा धरेन्ति महिहरा।
वित्थिणो गअणवहो णिज्जइ कीस गरुअत्तणं पडिवक्खो ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

२७ चिन्त्यतां तावच्चिरं कुलव्यपदेशक्षमं वहतां यश।
लज्जायाः समुद्रस्य च द्वयोरपि किं भवति दुष्करं व्यतिक्रमितुम् ॥८॥

२९ बान्धवस्नेहाभ्यधिको भवति परोऽपि विनयेन सेव्यमानः।
किं पुनः कृतोपकारो निष्कारणस्निग्धबान्धवो दाशरथिः ॥९॥

३८ मुक्तसलिला जलधरा अभिनवदत्तफलाश्च पादपनिवहाः।
लघुका अपि भवन्ति गुरुकाः समरमुखावहृतमण्डलाग्राश्च भुजाः ॥१०॥

३९ दर्पं न मुञ्चतः भुजौ प्रहरणकार्यं सुलभा ध्रियन्ते महीधराः।
विस्तीर्णो गगनपथो नीयते कस्माद् गुरुकत्वं प्रतिपक्षः ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

२७ थोड़ी देर विचारें (कि) कुल के कथन में समर्थ यश को धारण करनेवालों के लिए लज्जा और समुद्र—(इन) दोनों में से क्या लांघना कठिन है ॥८॥

२९ बान्धव स्नेह से अत्यधिक (सद्भाव प्रकटित करनेवाला) उदासीन व्यक्ति भी विनय से सेवन किया जाता है। क्या फिर किया है उपकार जिन्होंने (ऐसे) अकारण स्नेही बान्धव दशरथपुत्र (सेवन करने योग्य नहीं हैं ?) ॥९॥

३८ जल-वर्षा कर चुकनेवाले मेघ, नवीन फल दे चुकनेवाले वृक्ष-समूह तथा समर में खड्ग चलानेवाले हाथ भार-हीन होने पर भी आदरणीय होते हैं ॥१०॥

३९ भुजाएँ गर्व को नहीं छोड़ रही हैं, प्रहार-कार्य को सुलभ बनानेवाले पर्वत विद्यमान हैं (तथा) आकाश मार्ग विस्तीर्ण है। (अतः) प्रतिपक्ष किस कारण से भारी माना जा रहा है ॥११॥

४० धीरच्चिअ रक्खन्ता गरुअम्पि भरं धरेन्ति णवर सप्पुरिसा।
ठाणं च्चिअ अमुअन्ता णीसेसं तिहुअणं तवेन्ति रविअरा ॥१२॥
५७ समुहमिलिएक्कमेक्के को इर आसण्णसंसअम्मि सहाओ।
जाव ण दिज्जइ दिट्ठी काअव्वं होइ ताव चिरणिव्वुत्तं ॥१३॥

(संस्कृतच्छाया)

४० धैर्यमेव रक्षन्तो गुरुकमपि भरं धारयन्ति केवलं सत्पुरुषाः।
स्थानमेवामुञ्चन्तो निःशेषं त्रिभुवनं तापयन्ति रविकराः ॥१२॥
५७ सम्मुखमिलितैकैकस्मिन्कः किलासन्नसंशये सहायः।
यावन्न दीयते दृष्टिः कर्त्तव्यं भवति तावच्चिरनिर्वृत्तम् ॥१३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

४० धैर्य की रक्षा करनेवाले केवल सज्जन पुरुष ही भारी उत्तरदायित्व का भी निर्वाह करते हैं। सूर्य की किरणें (स्व) स्थान (रवि-मण्डल) को न छोड़ते हुए ही त्रिभुवन को तपाती हैं ॥१२॥

५७ (युद्ध के लिए) एक दूसरे के आमने-सामने मिलने पर संशयापन्न स्थिति में कौन सहायक होता है। (अतः) जब तक ध्यान नहीं दिया जाता है तब तक कार्य बहुत देर में सम्पन्न होता है ॥१३॥

३. सुभाषितानि[1]

गाथा ८६४ पेच्छह विवरीयमिमं बहुया मइरा मएइ ण हु थोवा।
लच्छी उण थोवा जह मएइ ण तहा इर बहूया ॥१॥
गाथा ८६६ एक्के लहुय-सहावा गुणेहिँ लहिउं महन्ति धणरिद्धिं।
अण्णे विसुद्ध-चरिआ विहवाहि गुणे विमग्गन्ति ॥२॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ८६४ प्रेक्षध्वं विपरीतमिदं बह्वी मदिरा मदयति न खलु स्तोका।
लक्ष्मीः पुनः स्तोका यथा मदयति न तथा किल प्रभूता ॥१॥
गाथा ८६६ एके लघुकस्वभावा गुणैर्लब्धुं महन्ति धन-ऋद्धिम्।
अन्ये विशुद्धचरिता विभवाद् गुणान् विमृग्यन्ति ॥२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

गाथा ८६४ इस विपरीतता को देखो। अधिक मदिरा मद पैदा करती है, थोड़ी नहीं; लेकिन थोड़ी लक्ष्मी जैसा मद उत्पन्न करती है वैसा (मद) अधिक (लक्ष्मी) नहीं करती है ॥१॥

गाथा ८६६ कुछ तुच्छ स्वभाववाले गुणों के द्वारा धन-ऋद्धि को प्राप्त करने की इच्छा

---

१. गउडवहो (७५० ई. लगभग) से उद्धृत।

गाथा ८७८ को व्व ण परम्मुहो णिग्गुणाण गुणिणो ण कं व दूमेन्ति।
जो वा ण गुणी जो वा ण णिग्गुणो सो सुहं जियइ ॥३॥

गाथा ८८० अविवेय-सङ्किणो च्चेय णिग्गुणा पर-गुणे पसंसन्ति।
लद्धगुणा उण पहुणो बाढ़ं वामा पर-गुणेसु ॥४॥

गाथा ८८१ सव्वो च्चिय स-गुणुक्करिस-लालसो वहइ मच्छरुच्छाहं।
ते पिसुणा जे ण सहन्ति णिग्गुणा पर-गुणुग्गारे ॥५॥

गाथा ८९७ तुङ्गावलोयणे होइ विम्हओ णीय-दंसणे सङ्का।
जह पेच्छन्ताण गिरिं जहा य अवडं णियन्ताण ॥६॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ८७८ को वा न पराङ्मुखो निर्गुणानां गुणिनो न कं वा दुन्वन्ति।
यो वा न गुणी यो वा न निर्गुणः स सुखं जीवति ॥३॥

गाथा ८८० अविवेकशङ्किन एव निर्गुणाः परगुणान् प्रशंसन्ति।
लब्धगुणाः पुनः प्रभवो बाढं वामा परगुणेषु ॥४॥

गाथा ८८१ सर्व एव स्वगुणोत्कर्षलालसो वहति मत्सरोत्साहम्।
ते पिशुना ये न सहन्ते निर्गुणा परगुणोद्गारान् ॥५॥

गाथा ८९७ तुङ्गावलोचने भवति विस्मयो नीचदर्शने शङ्का।
यथा प्रेक्षमाणानां गिरिं यथा च अवटं पश्यताम् ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

करते हैं। अन्य विशुद्ध चरित्रवाले (व्यक्ति) वैभव से गुणों को खोजते हैं ॥२॥

गाथा ८७८ गुणहीन व्यक्तियों से कौन पराङ्मुख नहीं (होता) अथवा गुणी (व्यक्ति) किसको दुःख नहीं देते हैं? (इसलिए) जो न गुणी है (और) जो न निर्गुण है वह सुख से जीता है ॥३॥

गाथा ८८० अविवेक की शंका से ग्रस्त निर्गुण (व्यक्ति) ही दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते हैं। लेकिन गुणों से युक्त प्रभु (गुण सम्पन्न व्यक्ति) दूसरों में एकदम उदासीन रहते हैं ॥४॥

गाथा ८८१ अपने गुणों के उत्कर्ष की लालसवाले सभी (व्यक्ति) मात्सर्यपूर्ण उत्साह धारण करते हैं। (लेकिन) वे नीच हैं जो निर्गुण दूसरों के गुणों के उद्गारों को सहन नहीं करते ॥५॥

गाथा ८९७ महान् (व्यक्ति) को देखने पर विस्मय (तथा) नीच (व्यक्ति) को देखने पर शङ्का होती है। जैसे पर्वत को देखनेवालों के लिए (विस्मय) और कुएँ को देखनेवालों के लिए (शङ्का होती है) ॥६॥

गाथा ९०० गुणिणो विहवारूढाण विहविणो गुरु-गुणाण ण हु किंपि।
लहुअ च्चिअ अण्णोण्णं गिरीण जे मूल-सिहरेसु ॥७॥

गाथा ९२५ धम्म-पसूआ कह होउ भयवई वेस-सज्जणा लच्छी।
ताओ अलच्छिओ च्चिय लच्छि-णिहा जा अणज्जेसु ॥ ८ ॥

गाथा ९२६ जा विउला जाओ चिरं जा परिहोउज्जलाओ लच्छीओ।
आयारधराणं चिय ताओ ण उणो य इयराण ॥ ९ ॥

गाथा ९३० अण्णोण्णं लच्छि-गुणाण णूण पिसुणा गुण च्चिय ण लच्छी।
लच्छी अहिलेइ गुणे लच्छि ण उणो गुणा जेण ॥ १० ॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ९०० गुणिणो विभवारूढानां विभविनो गुरुगुणानां न खलु किमपि।
लघुक एव अन्योन्यं गिरीणां ये मूलशिखरेषु ॥७॥

गाथा ९२५ धर्मप्रसूता कथं भवतु भगवती द्वेष्यसज्जना लक्ष्मीः।
ता अलक्ष्म्य एव लक्ष्मीनिभा या अनार्येषु ॥८॥

गाथा ९२६ या विपुला या चिरं याः परिभोगोज्ज्वला लक्ष्म्यः।
आचारधराणामेव ता न पुनश्चेतराणाम् ॥९॥

गाथा ९३० अन्योन्यं लक्ष्मीगुणानां नूनं पिशुना गुणा एव न लक्ष्मीः।
लक्ष्मीरभिलीयते गुणान् लक्ष्मीं न पुनर्गुणा येन ॥१०॥

(हिन्दी-अनुवाद)

गाथा ९०० गुणी वैभव में लिप्त व्यक्तियों के लिए तथा वैभव-सम्पन्न व्यक्ति उत्तम गुणवाले व्यक्तियों के लिए कुछ भी (महत्त्व प्रदान) नहीं (करते)। जो पर्वतों के मूल तथा शिखर पर (स्थित हैं, वे) एक दूसरे को छोटा ही (देखते हैं) ॥७॥

गाथा ९२५ धर्म-प्रसूता भगवती लक्ष्मी सज्जनों से द्वेष करनेवाली कैसे हो सकती हैं। (इसलिए) वे लक्ष्मी के समान प्रतीत होनेवाली अलक्ष्मी ही हैं जो अनार्यों के पास हैं ॥ ८ ॥

गाथा ९२६ जो लक्ष्मी विपुल हैं, जो चिरकाल तक रहनेवाली हैं तथा जो परिभोग में उज्ज्वल हैं, वे आचारवाले व्यक्तियों की ही हैं लेकिन अन्य की नहीं ॥ ९ ॥

गाथा ९३० निश्चय से लक्ष्मी और गुणों के बीच परस्पर में गुण ही दुष्ट हैं, लक्ष्मी नहीं। कारण, लक्ष्मी गुणों को अपनाती है किन्तु गुण लक्ष्मी को नहीं ॥ १० ॥

गाथा ९५६ गाढ-मय-मूढ-हियया लहिऊण धणं गुणं व जं किंपि ।
कह ते भरहिन्ति परं अप्पावि हु जाण पम्हुसइ ॥ ११ ॥
गाथा ९६२ णवरं दोसा ते च्चेय जे मयस्सवि जणस्स सुव्वन्ति ।
णज्जन्ति जियन्तस्सवि जे णवर गुणा वि ते च्चेय ॥ १२ ॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ९५६ गाढमदमूढहृदया लब्ध्वा धनं गुणं वा यं कमपि ।
कथं ते स्मरिष्यन्ति परमात्मापि खलु येषां प्रमृश्यते ॥११॥
गाथा ९६२ केवलं दोषास्त एव ये मृतस्यापि जनस्य श्रूयन्ते ।
ज्ञायन्ते जीवतोऽपि ये केवलं गुणा अपि त एव ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

गाथा ९५६ धन या गुण जिस किसी को भी पाकर घोर मद से मूढ़ हृदयवाले वे लोग, जिनकी आत्मा भी विस्तृत हो जाती है, दूसरे को कैसे याद करेंगे ॥ ११ ॥
गाथा ९६२ केवल वे ही दोष हैं जो मरने पर भी व्यक्ति के सुने जाते हैं, (और) केवल वे ही गुण भी हैं जो जीवित (व्यक्ति) के भी जाने जाते हैं ।

४. काव्य-चर्चा[1]

चिन्तामन्थरमन्थाणमन्थिए वित्थरम्मि अत्थाहे ।
उप्पज्जन्ति कइ-हिययसायरे कव्वरयणाइं ॥१॥
पाइयकव्वम्मि रसो जो जायइ तह व छेयभणिएहिं ।
उययस्स य वासियसीयलस्स तित्तिं न वच्चामो ॥२॥

(संस्कृतच्छाया)

चिन्तामन्थरमन्थानमथिते विस्तरेऽस्ताघे ।
उत्पद्यन्ते कविहृदयसागरे काव्यरत्नानि ॥१॥
प्राकृतकाव्ये रसो यो जायते तथा वा छेकभणितैः ।
उदकस्य च वासितशीतलस्य तृप्तिं न व्रजामः ॥२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

चिन्ता-रूपी मन्दराचल की मथानी से मथे गये विस्तृत एवं अगाध कवि-हृदय-रूपी समुद्र में काव्य-रत्न उत्पन्न होते हैं ॥१॥

प्राकृत-काव्य में जो रस होता है, निपुण (व्यक्तियों) की उक्ति के द्वारा जो रस उत्पन्न होता है तथा सुगन्धित शीतल जल का जो आनन्द होता है उसमें तृप्ति को नहीं पहुँच पाते हैं ॥२॥

---

१. वज्जालग्ग (समय-?) पृ० ४-८ से उद्धृत

कह कहवि रएइ पयं मग्गं पुलएइ छेयमारुहइ।
चोरो व्व कई अत्थं घेत्तूण कहवि निव्वहइ ॥३॥
सद्दावसद्दभीरू पए पए किंपि किंपि चिन्तन्तो।
दुक्खेहि कहवि पावइ चोरो अत्थं कई कव्वं ॥४॥
सद्दपलोट्टं दोसेहि वज्जियं सुललियं फुडं महुरं।
पुण्णेहि कहवि पावइ छन्दे कव्वं कलत्तं च ॥५॥
अणवरयबहलरोमञ्चकञ्चुयं जणियजणमणाणन्दं।
जं न घुणावइ सीसं कव्वं पेम्मं च किं तेण ॥६॥
सो सोहइ दूसन्तो कइयणरइयाइ विविहकव्वाइं।
जो भञ्जिऊण कुवयं अन्नपयं सुन्दरं देइ ॥७॥

संस्कृतच्छाया

कथंकथमपि रचयति पदं मार्गं प्रलोकयति (च्छेकं) छेदमारोहति।
चोर इव कविरर्थं गृहीत्वा कथमपि निर्वहति ॥३॥
शब्दापशब्दभीरुः पदे पदे किमपि किमपि चिन्तयन्।
दुःखैः कथमपि प्राप्नोति चोरोऽर्थं कविः काव्यम् ॥४॥
शब्दपर्यस्तं दोषैर्वर्जितं सुललितं स्फुटं मधुरं।
पुण्यैः कथमपि प्राप्नोति छन्दसि काव्यं कलत्रं च ॥५॥
अनवरतबहलरोमाञ्चकञ्चुकं जनितजनमन-आनन्दं।
यन्न घूनयते शीर्षं काव्यं प्रेम च किं तेन ॥६॥
स शोभते दूषयन् कविजनरचितानि विविधकाव्यानि।
यो भङ्क्त्वा कुपदमन्यपदं सुन्दरं ददाति ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

कठिनाई से पद को रखता है, मार्ग (शैली) विचारता है तथा निपुण व्यक्तियों को प्रभावित करता है। (ऐसा) कवि चोर की तरह अर्थ को ग्रहण कर किसी तरह निर्वाह करता है। चौर पक्ष— कठिनाई से पैर रखता है, मार्ग देखता है, छेद पर चढ़ता है ऐसा चोर धन को लेकर ढोता है ॥३॥

शब्द एवं अपशब्द में भय करनेवाला (तथा) पद-पद पर (कदम-कदम पर) कुछ-कुछ विचारनेवाला कवि काव्य को तथा चोर धन को दुःखों से किसी प्रकार प्राप्त करता है॥४॥

(सुन्दर) शब्दों में प्रवृत्त, दोषों से रहित, विलास से परिपूर्ण, विशुद्ध एवं मधुर काव्य और स्त्री छन्द (छन्दशास्त्र या अभिलाषा) में पुण्य के द्वारा किसी प्रकार (व्यक्ति) पाता है ॥५॥

अनवरत प्रचुर रोमाञ्चरूपी कवचवाला तथा जन-मन में आनन्द देनेवाला जो काव्य या प्रेम शिर को न हिला दे या कँपा दे उस (काव्य या प्रेम) से क्या (लाभ) ? ॥६॥

कवि-जन के द्वारा रचित विविध काव्यों को दूषित करनेवाला वह (व्यक्ति)

अत्थक्को रसरहिओ देसविहूणो णुणासिओ तुरिओ।
मुहवञ्चणो विराओ एए दोसा पढन्तस्स ॥ ८ ॥
देसियसद्दपलोट्टं महुरक्खरछन्दसंठियं ललियं।
फुडवियडपायडत्थं पाइयकव्वं पढेयव्वं ॥ ९ ॥
ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिङ्गारे।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ॥ १० ॥
अवुहा बुहाण मज्झे पढन्ति जे छन्दलक्खणविहूणा।
ते भमुहाखग्गनिवाडियं पि सीसं न लक्खन्ति ॥ ११ ॥
पाइयकव्वस्स नमो पाइयकव्वं च निम्मियं जेण।
ताहं चिय पणमामो पढिऊण य जे वियाणन्ति ॥ १२ ॥

(संस्कृतच्छाया)

अकालो रसरहितो देशविहीनोऽनुनासिकस्त्वरितः।
मुखवञ्चनो विराग एते दोषाः पठतः ॥८॥
देशीशब्दपर्यस्तं मधुराक्षरच्छन्दःसंस्थितं ललितं।
स्फुटविकटप्रकटार्थं प्राकृतकाव्यं पठनीयम् ॥९॥
ललिते मधुराक्षरके युवतिजनवल्लभे सशृङ्गारे।
सति प्राकृतकाव्ये कः शक्नोति संस्कृतं पठितुं ॥१०॥
अबुधा बुधानां मध्ये पठन्ति ये छन्दोलक्षणविहीनाः।
ते भ्रूखड्गनिपातितमपि शीर्षं न लक्षयन्ति ॥११॥
प्राकृतकाव्याय नमः प्राकृतकाव्यं च निर्मितं येन।
तेभ्य एव प्रणमामः पठितुं च ये विजानन्ति ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

शोभित होता है जो कु-पद को नष्ट कर दूसरे सुन्दर-पद को रख देता है ॥ ७ ॥

काल का ध्यान न रखना, रस से रहित होना, देश से रहित होना, नासिका के सहारे उच्चारण करना, जल्दी-जल्दी बोलना, मुख की माया-पूर्ण आकृति करना और राग-रहित होना -- ये पढ़नेवाले के दोष हैं ॥ ८ ॥

बिखरे हैं देशी-शब्द जिसमें तथा मधुर अक्षर एवं छन्द में स्थित, विलास से पूर्ण, स्पष्ट, सुन्दर, प्रकट अर्थवाला प्राकृत काव्य पठनीय है ॥ ९ ॥

ललित, मधुर अक्षरों से युक्त, युवतियों को प्रिय तथा शृङ्गार से युक्त प्राकृत काव्य के रहते हुए संस्कृत को कौन पढ़ेगा ॥ १० ॥

विद्वानों के बीच जो छन्द-लक्षण के ज्ञान से विहीन मूर्ख पढ़ते हैं वे भौं रूपी तलवार से काट दिये गए भी शिर को नहीं देखते हैं ॥ ११ ॥

प्राकृत काव्य को और उनको, जिनके द्वारा प्राकृत काव्य बनाया गया हो, नमस्कार हो। और जो (उनका) पढ़ना जानते हैं उनके लिए भी प्रणाम करते हैं।

(५.) दोलालीला[1]

द्वि० जव०
श्लोक ३०

विच्छाअन्तो णअररमणीमण्डलस्साणणाइं
विच्छोलन्तो गअणकुहरं कन्तिजोण्हाजलेण।
पेच्छन्तीणं हिअअणिहिअं णिद्दलन्तो अ दप्पं,
दोलालीलासरलतरलो दीसए से मुहेन्दू ॥१॥

श्लोक ३१

उच्चेहिं गोउरेहिं धवलधअवडाडम्बरिल्लावलीहिं,
घण्टाहिं विन्दुरिल्लासुरतरुणिविमाणाणुसारं लहन्ती।
पाआरं लङ्घअन्ती कुणइ रअवसा उण्णमन्ती णमन्ती,
एन्ती जन्ती अ दोला जणमणहरणं वुड्डुणुब्वुड्डुणेहिं ॥२॥

(संस्कृतच्छाया)

श्लोक ३०

विच्छाययन्नगररमणीमण्डलस्याननानि,
कम्पाययन् गगनकुहरं कान्तिज्योत्स्नाजलेन।
प्रेक्षमाणानां हृदयनिहितं निर्दलयंश्च दर्पं,
दोलालीलासरलतरलो दृश्यतेऽस्या मुखेन्दुः ॥१॥

श्लोक ३१

उच्चेषु गोपुरेषु धवलध्वजपटाडम्बरावलीषु।
घण्टाभिर्विद्राणसुरतरुणिविमानानुसारं लभमाना ॥
प्राकारं लङ्घयन्ती करोति रयवशादुन्नमन्ती नमन्ती।
आयान्ती यान्ती च दोला जनमनोहरणं ब्रूडनोत्ब्रूडनैः ॥२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

द्वि जव०
श्लोक ३०

नगर की रमणियों के मुखों को फीका बनाता हुआ, कान्ति-रूपी चाँदनी-जल से गगन के गड्ढे को कँपाता हुआ, (तथा) देखनेवालों के हृदय में निहित दर्प को चूर करता हुआ उस (कर्पूर-मञ्जरी) का मुख-चाँद झूले की लीला से सरल एवं चञ्चल दिखाई देता है ॥१॥

श्लोक ३१

श्वेत ध्वज-वस्त्रों की आडम्बर-युक्त पंक्तिवाले, ऊँचे-ऊँचे गोपुरों पर घण्टों के द्वारा मंजुल शब्द करनेवाले, देवाङ्गनाओं के विमान की अनुरूपता को प्राप्त, (तथा) प्राकार लाँघता हुआ, वेग से ऊपर जानेवाला एवं नीचे आनेवाला आता-जाता हुआ (झूला) डूबने और निकलने (की क्रिया) से मनुष्यों के मन का हरण करता है ॥२॥

---

१. कर्पूरमञ्जरी (९०० ई०) से उद्धृत

श्लोक ३२ रणन्तमणिणेउरं झणझणन्तहारच्छडं,
कणक्कणिअकिङ्किणीमुहलमेहलाडम्बरं ।
विलोलवलआवलीजणिअमञ्जुसिञ्जारवं,
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअ हिन्दोलणं ॥३॥

श्लोक ३३ उवरिट्ठिअथणपब्भारचम्पिअं चलणपङ्कआण जुअं ।
हक्कारइ व्व मअणं रणन्तमणिणेउर रवेण ॥४॥

श्लोक ३४ हिन्दोलणलीलाइअमुहलं रहचक्कचक्कलं रमणं ।
किलकिलइ व्व सहरिसं मणिकञ्चीकिङ्किणिरवेण ॥५॥

श्लोक ३५ तारन्दोलणहेलासरन्तसरिअच्छलेण से हारो ।
विक्खरइ व कुसुमाउहरणरवइणो कित्तिवल्लीओ ॥६॥

(संस्कृतच्छाया)

श्लोक ३२ रणन्मणिनूपुरं झणझणायमानहारच्छटं
कलक्वणितकिङ्किणीमुखरमेखलाडम्बरम् ।
विलोलवलयावलीजनितमञ्जुशिञ्जारवं
न कस्य मनोमोहनं शशिमुख्या हिन्दोलनम् ॥३॥

श्लोक ३३ उपरिस्थितस्तनप्राग्भारपीडितं चरणपङ्कजयोर्युगम् ।
आकारयतीव मदनं रणन्मणिनूपुरवेण ॥४॥

श्लोक ३४ हिन्दोलनलीलायितमुखरं रथचक्रवर्तुलं रमणम् ।
किलकिलायतीव सहर्षं काञ्चीमणिकिङ्किणीरवेण ॥५॥

श्लोक ३५ तारान्दोलनलीलासरद्सरिच्छलेनास्या हारः ।
विकरोतीव कुसुमायुधनरपतेः कीर्तिवल्लीः ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

श्लोक ३२ झनझनाते हुए मणि-नूपुरोंवाला, झङ्कार शब्द से युक्त हारावली की शोभावाला, मधुर एवं अस्पष्ट आवाजवाली छोटी-छोटी घण्टियों के रुम-झुम शब्दोंवाला मेखला के आडम्बरवाला तथा चञ्चल वलय की पङ्क्ति से उत्पन्न मनोहर झुन-झुन शब्द करनेवाला चन्द्रमुखी का झूला किसके मन को नहीं लुभा रहा है ॥३॥

श्लोक ३३ ऊपर स्थित स्तनों के उभार से पीड़ित (उस कर्पूरमञ्जरी के) चरणरूपी कमलों का जोड़ा बजते हुए मणि-नूपुरों के शब्द के द्वारा कामदेव को बुलाता हुआ-सा (प्रतीत हो रहा है) ॥४॥

श्लोक ३४ हिंडोले की क्रीड़ा में प्रमुख, रथ के चक्र की तरह गोल नितम्ब करधनी में लगी मणि की छोटी-छोटी घण्टियों के शब्द द्वारा हर्ष के साथ मानो किल-किला रहा है ॥५॥

श्लोक ३५ अत्यन्त ऊँचे झूलने की क्रीड़ा रूपी बहती नदी के बहाने उस (कर्पूर

श्लोक ३७ ताडङ्कजुअं गण्डेसु बहलघुसिणेसु घडणलीलाहिं।
देइ व दोलन्दोलणरेहाओ गणणकोड्डेण ॥७॥

श्लोक ३९ दोलारअविच्छेओ कहं पि मा होहिइ त्ति पडइ व्व।
पुट्टीअ वेणिदण्डो वम्महचम्मट्ठिआअन्तो ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

श्लोक ३७ ताटङ्कयुगं गण्डयोर्बहलघुसृणयोर्घटनलीलाभिः।
ददातीव दोलान्दोलनरेखा गणनकौतुकेन ॥७॥

श्लोक ३९ दोलारसविच्छेदः कथमपि मा भवत्विति पततीव।
पृष्ठे वेणिदण्डो मन्मथचर्मयष्टिकायमानः ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

मञ्जरी) का हार कामदेव राजा की कीर्तिलता को फैलाता हुआ-सा लगता है ॥६॥

श्लोक ३७ केसर लगे हुए गालों पर घिसने की लीला के द्वारा कुण्डल-युगल ऐसा प्रतीत होता था मानो झूला झूलने की गिनती करने के लिए रेखाओं को कौतूहल से देता (लगाता) हो ॥७॥

श्लोक ३९ झूलने के रस में किसी प्रकार का विच्छेद न हो इसलिए कामदेव की चर्मयष्टि के समान चोटी पीठ पर पड़ती हुई-सी लगती थी ॥८॥

६. उषाऽनिरुद्धयोर्दर्शनस्य कौतुकम्[1]

उसाए उसवेलाए सुज्जं विअ समण्णिअं।
अणिरुद्धं तदो दट्ठुं पाढत्ता पोर-इत्थिआ ॥१॥
ताणं अ तुवरन्तीणं विच्छिण्णद्ध-विभूसणा।
कल-कञ्ची-हलब्बोला अवत्था का वि वट्टइ ॥२॥

(संस्कृतच्छाया)

उषया उषर्वेलया सूर्यमिव समन्वितम्।
अनिरुद्धं ततो द्रष्टुं प्रारब्धा पौरस्त्रियः ॥१॥
तासां च त्वरमाणानां विच्छिन्नार्धविभूषणा।
कलकाञ्चीकोलाहलाऽवस्था काऽप्यवर्तत ॥२॥

नगर की स्त्रियों ने उषावेला से युक्त सूर्य की तरह उषा से समन्वित अनिरुद्ध को देखने के लिए तैयारी प्रारम्भ की ॥१॥

शीघ्रता करनेवाली उन (स्त्रियों) की, आधे विभूषणों के टूटने एवं करधनी के मधुर कोलाहल वाली, विचित्र-सी अवस्था हो गई ॥२॥

---

१. उसाणिरुद्ध (१८ वीं शताब्दी) चतुर्थ सर्ग से उद्धृत

आमुञ्चिअ झणक्कारि एक्कपाअम्मि णेउरं।
सुण्णेणावर-पाएण सिग्घं का वि पट्ठिई ॥३॥
तुला-कोडि-ब्भमेणेक्का कङ्कणं पाअ-पङ्कए।
आमोएदुमसत्ता णं णावआसं ति दूसइ ॥४॥
महुच्छिट्ठेण मट्ठम्मि ओट्ठे णट्ठेण चेअसा।
पिण्डालत्तअ-भन्तीए अञ्जणं का वि रञ्जइ ॥ ५ ॥
पसाहिआए घेप्पन्ती बलादो का वि ठाविआ।
तीए कुङ्कुममालित्तं थणे बाहेण खालइ ॥ ६ ॥
अङ्गअं कङ्कण-ट्ठाणे सअं काए वि बन्धिअं।
गच्छतीए ण तं णाअं फिडिअं पडिअं भुवि ॥ ७ ॥

(संस्कृतच्छाया)

आमोच्य झणत्कार्येकपादे नूपुरम्।
शून्येनापरपादेन शीघ्रं काऽपि प्रातिष्ठत ॥३॥
तुलाकोटिभ्रमेणैका कङ्कणं पादपङ्कजे।
आमोक्तुमशक्तैनन्नावकाशमित्यदूषयत् ॥४॥
मधूच्छिष्टेन मृष्ट ओष्ठे नष्टेन चेतसा।
पिण्डालक्तकभ्रान्त्याऽञ्जनं काऽप्यरञ्जयत् ॥५॥
प्रसाधिकया गृह्यमाणा बलात्काऽपि स्थापिता।
तया कुङ्कुममालिप्तं स्तने बाष्पेणाक्षालयत् ॥६॥
अङ्गदं कङ्कणस्थाने स्वयं कयाऽपि बद्धम्।
गच्छन्त्या न तज्ज्ञातं भ्रष्टं पतितं भुवि ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

कोई (स्त्री) झन-झन शब्द करनेवाले नूपर को एक पैर में पहिनकर (तथा) दूसरे खाली पैर से शीघ्र गई ॥३॥

एक (स्त्री) ने नूपुर के भ्रम से कंगन को चरण-कमल में पहिनने के लिए असमर्थ होकर यह छेद रहित है इस प्रकार (कंगन को) दोष दिया ॥४॥

किसी ने मदिरा के बचे हुए भाग से स्पृष्ट ओंठ पर, विवेक नष्ट होने से, पिण्डालक्तक (ओंठों पर लगानेवाली लालरंग की पिण्डि) के धोखे में अञ्जन को रंग लिया ॥५॥

प्रसाधिका के द्वारा जबर्दस्ती पकड़कर बिठलाई गई किसी (स्त्री) ने उस (प्रसाधिका) के द्वारा स्तन पर लगाये गये केसर को आँसुओं से धो डाला ॥६॥

किसी (स्त्री) के द्वारा स्वयं कंगन के स्थान पर बाजूबंद बांधा गया (तथा) जाते समय निकलकर जमीन पर गिरा हुआ वह बाजूबंद नहीं जाना गया ॥७॥

कञ्चि कण्ठे णिबज्झन्ती पालम्बं च कडी-अडे ।
धावन्ती का वि णावेइ सवत्तीणं विडम्बणं ॥ ८ ॥
पआण-प्पढिलं णिव्विं गण्हन्ती का वि पाणिणा ।
जण-संसम्मि तूरन्ती ण पट्ठइ ण चिट्ठइ ॥९॥
इअ वाउल-चेट्ठाओ बिम्बोट्ठीओ कहं चण ।
मणि-हम्मिअ-पासाए आरुहन्ति समन्ततो ॥१०॥
गवक्ख-विवराहिन्तो कडक्खा ताणं णिग्गदा ।
पगम्मि कमलाहिन्तो रेहन्ति भमरा विअ ॥११॥
इमे उसाणिरुद्धाणं मुह-चन्देसु लग्गिआ ।
कलङ्क-ल्चिछ बज्झन्ति णिक्कलङ्केसु वि प्फुडं ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

काञ्चीं कण्ठे निबध्नती प्रालम्बं च कटीतटे ।
धावन्ती काऽपि नावैत्सपत्नीनां विडम्बनम् ॥८॥
प्रयाणप्रशिथिलां नीवीं गृह्णती काऽपि पाणिना ।
जनसंसवि त्वरमाणा न प्रातिष्ठित नातिष्ठत् ॥९॥
इति व्याकुलचेष्टा बिम्बोष्ठ्यः कथंचन ।
मणिहर्म्यप्रासादानारोहन्समन्ततः ॥१०॥
गवाक्षविवरेभ्यः कटाक्षास्तासां निर्गताः ।
प्रगे कमलेभ्यो रेजुर्भ्रमरा इव ॥११॥
इमे उषाऽनिरुद्धयोर्मुखचन्द्रयोर्लग्नाः ।
कलङ्कलक्ष्मीमबध्नन्निष्कलङ्कयोरपि स्फुटम् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

करधनी को गले में तथा हार को कमर में पहिनकर दौड़ती हुई किसी (स्त्री) ने सपत्नियों के उपहास को नहीं जाना ॥८॥

प्रयाण (आगे बढ़ने) में शिथिल हुई धोती की गांठ को हाथ से पकड़े हुए शीघ्रता (से गमन) करने वाली कोई (स्त्री) जन-समूह में न आगे बढ़ सकी और न खड़ी रह सकी ॥९॥

इस प्रकार व्याकुल चेष्टा से युक्त बिम्ब के समान ओंठ वालीं (स्त्रियाँ) किसी प्रकार मणि (जड़ित) राज-भवन में चारों ओर से चढ़ गयीं ॥१०॥

गवाक्ष के छेदों से निकले हुये उनके कटाक्ष प्रातःकाल कमल से (निकले हुए) भ्रमरों की तरह शोभित हो रहे थे।

उषा और अनिरुद्ध के निष्कलङ्क मुखचन्द्रों पर भी लगे हुए इन (कटाक्षों) ने स्पष्ट कलङ्क-शोभा को उत्पन्न किया।

R B-Goudar

शौरसेनी-प्राकृत

प्रमुख विशेषताएँ

१. सरल व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) त>द, ततः=तदो, मारुतिना=मारुदिणा, लता=लदा।[1]
(२) थ>ध (विकल्प से), नाथः=णाधो, णाहो; कथम्=कधं, कहं।[2]
(३) ह्>ध (,,), इह=इध, इह; होह (भवथ)=होध, होह।[3]
(४) ह्>भ) ,,), होइ (भवति)=भोदि, होदि या भवदि, हवदि।[4]
(५) द (अपरिवर्तित), पादेसु=पादेसु (पादयोः),

२. संयुक्त-व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) न्त>न्द, शकुन्तला=सउन्दला, निश्चिन्तः=निच्चिन्दो।[5]
(४) र्य>य्य (विकल्प से), पर्याकुलः=पय्याउलो, पज्जाउलो, आर्या=अय्या, अज्जा।[6]

३. शब्द-रूप

(१) न्+सि (सु)>म् (अनुस्वार के रूप में),[7]
भवान्=भवं, भगवान्= भयवं।

---

१. तो दो नादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ ८।४।२६० । हे० ॥
शौरसेनी में अनादि असंयुक्त त को द होता है।

२. थो धः ॥ ८।४।२६७ । हे० ॥
शौरसेनी में थ को विकल्प से ध होता है।

३. इह-हचोर्हस्य ॥८।४।२६८ । हे० ॥
इह तथा हच् प्रत्यय में स्थित ह को विकल्प से ध होता है।

४. भुवो भः ॥ ८।४।२६९ । हे० ॥
शौरसेनी में भुव (भू) धातु को आदेश रूप से हुए हो, हुव तथा हव के ह को विकल्प से भ आदेश होता है।

५. अधः क्वचित् ॥ ८।४।२६१ । हे० ॥
शौरसेनी में वर्णान्तर के पश्चात् त को कहीं-कहीं द होता है।

६. न वा र्यो य्यः ॥ ८।४।२६६ । हे० ॥
शौरसेनी में र्य को विकल्प से य्य होता है।

७. भवद्भगवतोः ॥ ८।४।२६५ । हे० ॥
शौरसेनी में सूत्रोक्त शब्दों के न् को सि (सु) परे रहते म् होता है।

(२) अ+ङसि>आदो, आदु,[1] वीरात् (वीर+ङसि) = वीरादो, वीरादु।
(३) इन्+सि (सु) सम्बोधन=इआ (विकल्प से),[2] हे कञ्चुकिन्=भो कञ्चुइआ, भो कञ्चुइ; हे तपस्विन् = भो तवस्सिआ, भो तवस्सि।
(४) न्+सि (सु) सम्बोधन=म् (विकल्प से),[3] हे राजन्=भो रायं, भो राय; हे विजयवर्मन् = भो विअय-वम्मं, भो विअय-वम्म।

४. धातु-रूप

(१) तिप्, त (अ से परे होने पर)>दि, दे,[4] गच्छति=गच्छदि, गच्छदे; रमते = रमदि, रमदे।
(१) तिप्, त (अ भिन्न स्वर से परे रहते)>दि,[5] भवति = भो+इ = भोदि या हो+इ = होदि।
(३) हि, हा, स्सा (भविष्यत् अर्थ में लगने वाले विकरण)>स्सि,[6] गमिष्यति=गच्छिहिदि=गच्छिस्सिदि आदि।

५. आगम एवं आदेश

(१) अनुस्वार+इ, ए>अनुस्वार+ण्+इ, ए (विकल्प से),[7] युक्तम्+इदम्=जुत्तं+इदं = जुत्तणिमं, जुत्तमिमं; किम्+एतत्=किं+एदं = किं णेदं, किमेदं।
(२) इदानीम्>दाणिं,[8] अन्यमिदानीं बोधिम्=अण्णं दाणिं बोहि।

---

१. अतो ङसेर्डादो-डादू ॥ ८।४।२७६ । हे० ॥
शौरसेनी में अ से परे ङसि को आदो, आदु होते हैं।

२. आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः । ८।४।२६३ । हे० ॥
शौरसेनी में इन् के न् को सम्बोधन में सि (सु) परे रहते विकल्प से आ होता है।

३. मो वा ॥ ८।४।२६४ । हे० ॥
शौरसेनी में सम्बोधन का सि (सु) परे रहते न् को विकल्प से म् होता है।

४. अतो देश्च ॥ ८।४।२७४ । हे० ॥
अकार से परे इच्, एच् को दि तथा दे होते हैं।

५. दिरिचेचोः ॥ ८।४।२७३ हे० ॥
त्यादि को विहित इ, ए के स्थान पर दि होता है।

६. भविष्यति स्सिः ॥८।४।२७५ । हे० ॥
शौरसेनी में भविष्यत् अर्थ में विहित प्रत्यय परे रहते स्सि होता है।

७. मोन्त्याण्णो वेदेतोः ॥ ८।४।२७६ । हे० ॥
शौरसेनी में इ, ए परे रहते अन्तिम मकार के बाद विकल्प से ण का आगम होता है।

८. ८।४।२७७ । हे० ॥

(३) तावत्>दाव, ताव[1]; एतस्यास्तावदेवम्=एदाए दाव एदं, एदाए ताव एदं।

(४) तस्मात्>ता[2], तस्माद् यावत् प्रविशामि=ता जाव पविसामि।

(५) पूर्व<पुरव,[3] अपूर्वं नाटकम् = अपुरवं नाडयं।

६. निपात[4]

(१) अम्महे (हर्ष)। (२) णं (ननु)। (३) य्येव (एव)।

(४) हञ्जे (दासी को बुलाने के लिए प्रयुक्त)।

(५) हीणामहे (विस्मय, निर्वेद)। (६) ही ही (विदूषक की हंसी)।

७. कृत्प्रत्यय

(१) क्त्वा>इय, दूण (विकल्प से),[5]
भूत्वा=भविय, भोदूण, भोत्ता; पठित्वा = पढिय, पढिदूण, पढित्ता।

(१) क्त्वा>अडुअ (विकल्प से),[6]
कृत्वा=कडुअ, करिय, करिदूण।
गत्वा=गडुअ, गच्छिअ, गच्छिदूण।
(शेष नियम सामान्य-प्राकृत के अनुसार हैं)

७. चक्रवत्परिवर्तन्ते[7]

विदूषक:—अण्णं अण्णं णिमन्तेदु दाव भवं। अरित्तओ दाव अहं। णं भणामि अहं अरित्तओ त्ति। किं भणासि—सम्पण्णं असणं अण्हिदव्वं भविस्सदि त्ति। अहं पुण जाणामि अहिअमहुरस्स अम्बस्स अजोग्गदाए अण्ठी ण भक्खीअदि त्ति।

(संस्कृतच्छाया)

विदूषकः—अन्यमन्यं निमन्त्रयतु तावद् भवान्। अरिक्तकस्तावदहम्। ननु भणाम्यहमरिक्तक इति। किं भणसि—सम्पन्नमशनमशितव्यं भविष्यतीति? अहं पुनर्जानाम्यधिकमधुरस्याम्रस्यायोग्यतया अस्थि न भक्ष्यत इति। किमिदानीं

(हिन्दी-अनुवाद)

तब तक आप दूसरे-दूसरे को निमन्त्रित करें। तब तक मैं खाली नहीं हूँ। हां कहता हूँ मैं खाली नहीं हूँ। क्या कहते हो—सुन्दर भोजन खाने के लिए होगा? लेकिन मैं जानता हूँ कि अत्यन्त मधुर आम की गुठली उचित न होने से नहीं खाई

---

१. ८।४।२६२। हे० ॥ २. ८।४।२७८। हे० ॥ ३. ८।४।२७०। हे० ॥

४. ८।४।२८४, २८३, २८०, २८१, २८२. २८५ (क्रमशः)। हे० ॥

५. ८।४।२७१। हे० ॥ ६. ८।४।२७२। हे० ॥

७. चारुदत्त (तीसरी शताब्दी) के पृ. ८-११ से उद्धृत।

किं दाणि मं उल्लालिअ उल्लालिअ भणासि ? भणामि वावुदो त्ति। किं भणासि दक्खिणामासआणि भविस्संदि त्ति।

एसो वाआ पच्चाचक्खिदो हिअएण अणुबन्धीअमाणो गच्छीअदि। अहो अच्चाहिदं। अहं वि णाम परस्स आमन्तआणि त्ति तक्कमि। जो अहं तत्तहोदो चारुदत्तस्स गेहे अहोरत्तपय्यत्तसिद्धेहि णाणाविधेहि हिङ्गुविद्धेहि ओग्गारणसुगन्धेहि भूक्खेवमत्तपडिच्छिदेहि अन्तरन्तरपाणीएहि असणप्पआरेहि चित्तअरो विअ बहुमल्लएहि परिवुदो आअण्ठमत्तं अण्हिअ चच्चरवुसहो विअ मोदअखज्जएहि रोमन्थाअमाणो दिवसं खेवेमि, सो एव्व दाणि अहं तत्तहोदो चारुदत्तस्स दरिद्दाए समं पारावदेहि साहारणवुत्ति उपजीवन्तो अण्णहिं चरिअ

(संस्कृतच्छाया)

मामुल्लाल्योल्लाल्य भणसि ? भणामि व्यापृत इति। किं भणसि ? दक्षिणा माषका भविष्यन्तीति ?

एष वाचा प्रत्याख्यातो हृदयेनानुबध्यमानो गम्यते। अहो अत्याहितम् ! अहमपि नाम परस्यामन्त्रणानीति तर्कयामि। योऽहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य गेहेऽहोरात्रपर्याप्तसिद्धैर्नानाविधैर्हिङ्गुविद्धैरुद्गारसुगन्धिभिर्भ्रूक्षेपमात्रप्रतीक्षितैरन्तरान्तरापानीयैरशनप्रकारैश्चित्रकर इव बहुमल्लकैः परिवृत आकण्ठमात्रमशित्वा चत्वरवृषभ इव मोदकखाद्यै रोमन्थायमानो दिवसं क्षिपामि, स एवेदानीमहं तत्रभवतश्चारुदत्तस्य दरिद्रतया समं पारावतैः साधारणवृत्तिमुपजीवन् अन्यत्र चरित्वा चरित्वा तस्यावासमेव गच्छामि।

(हिन्दी-अनुवाद)

जाती है। इस समय मुझे लालच दे-देकर क्या कह रहे हो ? कहता हूँ—व्यस्त हूँ। क्या कहते हो—दक्षिणा में माषक (एक प्रकार का सोने का सिक्का) होंगे ?

यह वाणी से अस्वीकृत (परन्तु) हृदय से अनुसरण किया जा रहा है। हा राम ! (अर्थात् कितने बड़े दुःख की बात है) मैं भी दूसरों के आमन्त्रणों की कल्पना करता हूँ। जो मान्य चारुदत्त के घर में रात-दिन पर्याप्त मात्रा में बने तथा, हींग मिले हुए, डकार में सुगन्धित (अर्थात् सुगन्धित डकार लानेवाले) भ्रू के गिराने के इशारे से स्वीकृत, बीच-बीच में पानी के साथ नाना प्रकार के भोजनों से बहुत से वर्ण-पत्रों से घिरे हुए चित्र बनाने वाले की तरह घिरा हुआ मैं गले पर्यन्त खाकर चौराहे के बैल की तरह मोदक खाद्यों को फिर से चबाते हुए दिन व्यतीत करता था, वही इस समय मैं मान्य चारुदत्त की दरिद्रता से कबूतरों के साथ सामान्य-वृत्ति से जीते हुए दूसरी जगह विचरण कर-करके उसके निवास (घर) को ही जाता हूँ। और दूसरा आश्चर्य। मेरा उदर अवस्था-विशेष को जानता है, थोड़े से भी सन्तुष्ट हो जाता है,

चरिअ तस्स आवासं एव्व गच्छामि। अण्णं च अच्छरिअं। मम उदरं अवत्था-विसेसं जाणादि। अप्पेणावि तुस्सदि। बहुअं वि ओदणभरं भरिस्सदि दीअमाणं, ण आएदि अदीअमाणं, ण पच्चाचिक्खदि। ण खु अहं एरिसेण ण सन्तुट्टो।

तां सट्टीकिददेवकय्यस्स तत्तहोदो चारुदत्तस्स कारणादो गहीदो सुमणो अन्तलिक्खवासो अ। जाव से पस्सपरिवत्ती होमि। (परिक्रम्यावलोक्य च) एसो तत्तभवं चारुदत्तो पभादचन्दो विअ सकरुणप्पिअदंसणो जहाविभवेण गिहदेवदाणि अच्चअन्तो इदो एव्व आअच्छदि। जाव णं उवसप्पामि। (निष्कान्तः)

(संस्कृतच्छाया)

अन्यच्चाश्चर्यम्। ममोदरमवस्थाविशेषं जानाति। अल्पेनापि तुष्यति। बहुकमप्योदनभरं भरिष्यति दीयमानम्, न याचते अदीयमानं, न प्रत्याचष्टे। न खल्वहमीदृशेन न सन्तुष्टः।

तत् षष्ठीकृतदेवकार्यस्य तत्रभवतश्चारुदत्तस्य कारणाद् गृहीतः सुमनोऽन्तरिक्ष-वासश्च। यावदस्य पार्श्वपरिवर्ती भवामि (परिक्रम्यावलोक्य च) एष तत्रभवांश्चारु-दत्तः प्रभातचन्द्र इव सकरुणप्रियदर्शनो यथाविभवेन गृहदैवतान्यर्चयन्नित एवागच्छति। यावदेनमुपसर्पामि। (निष्क्रान्तः)

(हिन्दी-अनुवाद)

दिये जाने पर बहुत (अधिक) भी ओदन भार को भर लेता है। नहीं दिये जाने पर नहीं लेता है, न मना करता है (अर्थात् दिये जाने पर मना नहीं करता है)। मैं इससे सन्तुष्ट नहीं हूं ऐसी बात नहीं है।

इसलिए षष्ठी के दिन के देवकार्य को कर चुकने वाले मान्य चारुदत्त के लिए फूल एवं अन्तरिक्ष-कपड़े (ऊपरी कपड़े) लिये हूँ। जब तक मैं पास में खड़ा होता हूँ, (घूमकर तथा देखकर) यह प्रभात के चाँद की तरह करूणायुक्त प्यारा लगने वाला, विभव के अनुसार गृह-देवताओं को पूजता हुआ मान्य चारुदत्त यहाँ ही आ रहा है। जब तक उसके पास पहुँचता हूँ। (निकलता है)

८. अभिशाप-मर्षणम्[1]

प्रियंवदा—हद्धी हद्धी। अप्पिअं एव्व संवुत्तं। कस्सिं पि पूआरुहे अब(व)रद्धा सुण्णहिअआ सउन्दला। (पुरोऽवलोक्य) ण हु जस्सिं कस्सिं पि। एसो दुव्वासो सुलहकोबो(वो) महेसी। तह सवि(वि)अ वेअचडुलुप्फुल्लदुव्वाराए गईए पडिणिवुत्तो। को अण्णो हुदवहादो दहिदुं पहविस्सदि।

अनसूया—गच्छ। पादेसु पणमिअ णिवत्तेहि णं। जाव अहं अग्घोदअं उव(व)कप्पेमि।

प्रियंवदा—तह। (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अम्मो। आवेअक्खलिदाए गईए पब्भट्ठं मे हत्थादो पुप्फभाअणं। (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)

(संस्कृतच्छाया)

प्रियंवदा—हा धिक् हा धिक्। अप्रियमेव संवृत्तम्। कस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शून्यहृदया शकुन्तला। (पुरोऽवलोक्य) न खलु यस्मिन्कस्मिन्नपि। एष दुर्वासाः सुलभकोपो महर्षिः। तथा शप्त्वा वेगचटुलोत्फुल्लदुर्वारया गत्या प्रतिनिवृत्तः। कोऽन्यो हुतवहाद्दग्धुं प्रभविष्यति।

अनसूया—गच्छ। पादयोः प्रणम्य निवर्तयैनम्। यावदहमर्घ्योदकमुपकल्पयामि।

प्रियंवदा—तथा। (इति निष्क्रान्ता)

अनसूया—(पदान्तरे स्खलितं निरूप्य) अहो। आवेगस्खलितया गत्या प्रभ्रष्टं मे हस्तात् पुष्पभाजनम्। (इति पुष्पोच्चयं रूपयति)

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रियंवदा—हाय! हाय! अप्रिय ही हो गया। किसी पूजनीय व्यक्ति के प्रति शकुन्तला ने अपराध कर दिया है। (सामने देखकर) जिस-किसी के प्रति भी नहीं। ये जल्दी से नाराज हो जानेवाले दुर्वासा ऋषि हैं। और (ऐसा) शाप देकर वेग की चञ्चलता से विकसित अतएव नहीं रोकी जाने वाली चाल से लौट गये। अग्नि को छोड़कर और कौन जलाने में समर्थ होगा।

अनुसूया—जाओ। चरणों में प्रणाम कर उन्हें लौटा लाओ। जब तक मैं अर्घ्योदक तैयार करती हूँ।

प्रियंवदा—अच्छा। (ऐसा करके निकल जाती है)

अनसूया—(अगले कदम पर गिरने का अभिनय कर) आवेग से स्खलित गति के कारण मेरे हाथ से पुष्प-भाजन (फूलों की डलिया) गिर गया। (इस प्रकार कहकर फूलों को बटोरने लगती है)

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तल (चौथी शताब्दी) के चतुर्थ अंक-विष्कम्भ (पृ० १३७-१४०) से उद्धृत।

प्रियंवदा—(प्रविश्य) सहि। पकिदिवक्को सो कस्स अणुणअं पडिगेण्हदि। किम्पि उण साणुक्कोसो किदो।

अनसूया—(सस्मितम्) तस्सिं बहु एदम्पि। कहेहि।

प्रियंवदा—जदा णिवत्तिदुं ण इच्छदि तदा विण्णवि(व)दो मए। भअवं। पढमं त्ति (ति) पेक्खिअ अविण्णादतब(व)प्पहावस्स दुहिदुजणस्स भअवदा एक्को अब(व)राहो मरिसिदव्वो त्ति।

अनसूया—तदो तदो।

प्रियंवदा—तदो मे वअणं अण्णहाभविदुं णारिहदि। किन्दु अहिण्णाणाभरणदंसणेण सावो(वो) णिवत्तिस्सदि त्ति मन्तअन्तो सअं अन्तरिहिदो।

अनसूया—सक्कं दाणिं अस्ससिदुं अत्थि। तेण राएसिणा सम्पत्थिदेण सणामहे-

(संस्कृतच्छाया)

(ततः प्रविशति प्रियंवदा)

प्रियंवदा—सखि! प्रकृतिवक्रः स कस्यानुनयं प्रतिगृह्णाति। किमपि पुनः सानुक्रोशः कृतः।

अनसूया—(सस्मितम्) तस्मिन् बह्वेतदपि। कथय।

प्रियंवदा—यदा निर्वर्तितुं नेच्छति। तदा विज्ञापितो मया। भगवन्! प्रथममिति प्रेक्ष्याविज्ञाततपःप्रभावस्य दुहितृजनस्य भगवतैकोऽपराधो मर्षयितव्य इति।

अनसूया—ततस्ततः।

प्रियंवदा—ततो मे वचनमन्यथाभवितुं नार्हति किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निर्वर्तिष्यत इति मन्त्रयमाणः स्वयमन्तर्हितः।

अनसूया—शक्यमिदानीमाश्वासितुमस्ति। तेन राजर्षिण संप्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कित-

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रियंवदा—(प्रवेश कर) प्रकृति से ही वक्र वह किसकी प्रार्थना सुनता है। लेकिन फिर भी दयापूर्ण हृदय से कुछ किया गया।

अनसूया—(आश्चर्य सहित) उसमें इतना भी बहुत है। कहो।

प्रियंवदा—जब लौटने को तैयार नहीं हुए तब मेरे द्वारा कहा गया—पहला (अपराध है) ऐसा जानकर तपस्या के प्रभाव को नहीं समझने वाली कन्या के एक अपराध को क्षमा किया जाना चाहिए।

अनसूया—फिर फिर,

प्रियंवादा—फिर (उन्होंने कहा कि) मेरे वचन अन्यथा (झूठे) नहीं हो सकते हैं किन्तु निशानी रूप आभरण के देखने से शाप समाप्त हो जायगा ऐसा कहते हुए वे अन्तर्धान हो गये।

अनसूया—अब धीरज रखना सम्भव है। जाते हुए उस राजर्षि के द्वारा अपने नाम

अङ्किअं अङ्गुलीअअं सुमरणीअं त्ति(ति) सअं पिणद्धं। तस्सिं साहीणोबा(वा)आ सउन्दला भविस्सदि।

प्रियंवदा—सहि। एहि। देवकज्जं दाव णिव्वत्तेम्ह।

(इति परिक्रामतः)

(संस्कृतच्छाया)

मङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम्। तस्मिन् स्वाधीनोपाया शकुन्तला भविष्यति।

प्रियंवदा—सखि। एहि! देवकार्यं तावन्निर्वर्तयावः।

(इति परिक्रामतः)

(हिन्दी-अनुवाद)

से अङ्कित अंगूठी स्मरणीय है ऐसा कह कर स्वयं पहिनाई गई है। उस (के दिखाने पर) शकुन्तला (शाप से) स्वतन्त्र हो जायगी।

प्रियंवदा—सखि आओ! तब तक देव-कार्य निपटा लें।

(ऐसा कह कर घूमती हैं)

९. अभिसारः[1]

चेटी—कधं अज्ज बि(व) अज्जुआ ण विबुज्झदि। भोदु पविसिअ पवोधइस्सं।

(इति नाट्येन परिक्रामति। ततः प्रविशत्याच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—उत्थेदु उत्थेदु अज्जुआ पभादं संवुत्तं।

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कधं रत्ति ज्जेव्व पभादं संवुत्तं।

(संस्कृतच्छाया)

चेटी—कथमद्यापि आर्या न विबुध्यते! भवतु, प्रविश्य प्रबोधयिष्यामि।

(इति नाट्येन परिक्रामति। ततः प्रविशत्याच्छादितशरीरा प्रसुप्ता वसन्तसेना)

चेटी—उत्तिष्ठतु उत्तिष्ठतु आर्या; प्रभातं संवृत्तम्।

वसन्तसेना—(प्रतिबुध्य) कथं रात्रिरेव प्रभातं संवृत्तम्?

(हिन्दी-अनुवाद)

चेटी—क्या अब भी आर्या सोकर नहीं उठी हैं? अच्छा, घुसकर जगाऊँगी। (ऐसा कहकर अभिनय से घूमती है। इसके बाद ढके हुए शरीरवाली सोई हुई वसन्तसेना प्रवेश करती है।)

चेटी—आर्ये! उठिए उठिए! सबेरा हो गया।

वसन्तसेना—(जागकर) अरे रात्रि ही सबेरा हो गई।

---

१. मृच्छकटिक (पाँचवी शताब्दी) के छठे अंक (पृ० ९३-९४) से उद्धृत।

चेटी—अम्हाणं एसो पभादो अज्जुआए उण रत्ति ज्जेव्व ।
वसन्तसेना—हञ्जे । कहिं तुम्हाणं जूदिअरो ?
चेटी—अज्जुए वड्ढमाणअं समादिसिअ पुप्फकरण्डअं जिण्णुज्जाणं गदो अज्जचारुदत्तो ।
वसन्तसेना—किं समादिसिअ ?
चेटी—जोएहि रादीए ज्जेव्व पवहणं वसन्तसेणा गच्छदु त्ति ।
वसन्तसेना—हञ्जे कहिं मए गन्तव्वं ?
चेटी—अज्जुए जहिं चारुदत्तो ।
वसन्तसेना—(चेटी परिष्वज्य) हञ्जे सुट्ठु ण णिज्झाइदो रादीए ता अज्ज पच्चक्खं पेक्खिस्सं । हञ्जे किं पविट्ठा अहं अब्भन्तरचतुस्सालअं ?

(संस्कृतच्छाया)

चेटी—अस्माकमेतत्प्रभातमार्यायाः पुना रात्रिरेव ।
वसन्तसेना—चेटि ! क्व युष्माकं द्यूतकरः ?
चेटी—आर्ये ! वर्धमानकं समादिश्य पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं गत आर्यचारुदत्तः ।
वसन्तसेना—किं समादिश्य ?
चेटी—योजय रात्रावेव प्रवहणं वसन्तसेना गच्छत्विति ।
वसन्तसेना—चेटि ! क्व मया गन्तव्यम् ?
चेटी—आर्ये ! यत्र चारुदत्तः ।
वसन्तसेना—(चेटीं परिष्वज्य) चेटि ! सुष्ठु न निध्यातो रात्रौ । तदद्य प्रत्यक्षं प्रेक्षिष्ये । चेटि ! किं प्रविष्टाऽहमभ्यन्तरचतुःशालकम् ?

(हिन्दी-अनुवाद)

चेटी—हमलोगों का यह सवेरा है लेकिन आर्या की रात्रि ही (है) ।
वसन्तसेना—चेटी ! कहाँ है तुम्हारा जुआरी ?
चेटी—आर्ये ! वर्धमानक को आज्ञा देकर आर्य चारुदत्त पुष्पकरण्डक (नामक) पुराने बगीचे में गये हैं ।
वसन्तसेना—क्या आज्ञा देकर ?
चेटी—रात्रि में ही गाड़ी जोतो (जिससे) वसन्तसेना चली जाय ।
वसन्तसेना—चेटी ! मुझे कहाँ जाना होगा ?
चेटी—आर्ये ! जहाँ चारुदत्त ।
वसन्तसेना—(चेटी को अपने शरीर से लिपटाकर) चेटी ! रात्रि में ठीक से नहीं दिखे इसलिए आज प्रत्यक्ष देखूँगी । चेटी ! क्या मैं भीतरी चतुःशाला (चार शालाओं से युक्त घर) में प्रविष्ट हो चुकी हूँ ?

चेटी—ण केवलं अब्भन्तरचतुस्सालअं सव्वजणस्स हिअअं पि पविट्ठा।
वसन्तसेना—अबि(वि) सन्तप्पदि चारुदत्तस्स परिअणो ?
चेटी—सन्तप्पिस्सदि।
वसन्तसेना—कदा ?
चेटी—जदो अज्जुआ गमिस्सदि।
वसन्तसेना—तदो मए पढमं सन्तप्पिदव्वं। हञ्जे गेण्ह एदं रअणावलिं। मम बहिणिआए अज्जाधूदाए गदुअ समप्पेहि, भणिदव्वं च। अहं सिरीचारुदत्तस्स गुणणिज्जिदा दासी तदा तुम्हाणं पि। ता एसा तुह ज्जेव्व कण्ठाहरणं होदुं रअणावली।
चेटी—कुप्पिस्सदि चारुदत्तो अज्जुआए दाव।

(संस्कृतच्छाया)

चेटी—न केवलमभ्यन्तरचतुःशालकं सर्वजनस्य हृदयमपि प्रविष्टा।
वसन्तसेना—अपि सन्तप्यते चारुदत्तस्य परिजनः ?
चेटी—सन्तप्स्यते।
वसन्तसेना—कदा ?
चेटी—यदा आर्या गमिष्यति।
वसन्तसेना—तदा मया प्रथमं सन्तप्तव्यम्। चेटि! गृहाणेमां रत्नावलीं मम भगिन्यै आर्याधूतायै गत्वा समर्पय वक्तव्यं च—अहं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जिता दासी, तदा युष्माकमपि। तदेषा तवैव कण्ठाभरणं भवतु रत्नावली।
चेटी—कोपिष्यति चारुदत्त आर्यायै तावत्।

(हिन्दी-अनुवाद)

चेटी—न केवल भीतरी चतुःशाला में (अपितु) समस्त मनुष्यों के हृदय में भी प्रविष्ट हो गई हो।
वसन्तसेना—क्या चारुदत्त का परिवार संतप्त है ?
चेटी—संतप्त होगा।
वसन्तसेना—कब ?
चेटी—जब आर्या जायेंगी।
वसन्तसेना—तब मुझे पहले संतप्त होना चाहिये। चेटी यह रत्नावली लो। मेरी बहिन आर्या धूता के लिए जाकर समर्पित कर दो और कहना कि मैं चारुदत्त के गुणों से जीती गई दासी (हूँ) तो तुम्हारी भी (दासी ही हूँ)। इसलिये यह रत्नावली तुम्हारे ही गले का आभूषण होवे।
चेटी—तब आर्या से चारुदत्त क्रोधित होंगे।

वसन्तसेना—गच्छ ण कुप्पिस्सदि ।
चेटी—(गृहीत्वा) जं आणावे(वे)सि । (इति निष्क्रान्ता)

(संस्कृतच्छाया)

वसन्तसेना—गच्छ न कोपिष्यति ।
चेटी—(गृहीत्वा) यदाज्ञापयसि । (इति निष्क्रान्ता)

(हिन्दी-अनुवाद)

वसन्तसेना—जाओ क्रोधित नहीं होंगे ।
चेटी—(ग्रहण कर) जैसी आज्ञा दें । (ऐसा कहकर निकल जाती है)

१०. समराङ्गणम्[1]

पुरुषः—अज्जा ! अवि(व) णाम इमस्सिं उद्देसे सारहिदुदीओ दिट्ठो महाराअदुज्जोहणो ण वेत्ति । कहं ण को वि(वि) मन्तेदि । होदु, एदाणं बद्धपरिअराणं पुरिसाणं समूहो दीसइ त्ति एत्थ गदुअ पुच्छिस्सं । (विलोक्य) कहं एदे सस्सामिणो गाढप्पहाराहदस्स घणसंणाहजालदुब्भेज्जमुहेहिं कङ्कव(व)त्तेहिं हिअआदो सल्लाइं उद्धरन्ति । ता खु एदे ण जाणन्ति । होदु, अण्णदो विचिणइस्सं । इमे क्खु अव(व)रे पहूददरा

(संस्कृतच्छाया)

पुरुषः—आर्याः ! अपि नामास्मिन्नुद्देशे सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महराजदुर्योधनो न वेति ? कथं न कोऽपि मन्त्रयते ! भवत्वेतेषां बद्धपरिकराणां पुरुषाणां समूहो दृश्यत इत्यत्र गत्वा प्रक्ष्यामि । (विलोक्य) कथमेते स्वस्वामिनो गाढप्रहाराहतस्य घनसन्नाहजालदुर्भेद्यमुखैः कङ्कपत्रैर्हृदयाच्छल्यान्युद्धरन्ति ! तत्खल्वेते न जानन्ति । भवत्वन्यतो विचेष्यामि । इमे खल्वपरे प्रभूततराः

(हिन्दी-अनुवाद)

पुरुषः—महानुभावो ! क्या अपने इस जगह कहीं सारथी के साथ महाराज दुर्योधन को देखा है ? क्यों कोई भी उत्तर नहीं दे रहा है ! अच्छा (यह) इन कमरकसे हुए लोगों का समूह दिख रहा है वहाँ जाकर पूछता हूँ । (देखकर) अरे यह क्या ? ये लोग गहरी चोट खाये हुए अपने-अपने स्वामियों के हृदय से घने कवचों में नहीं टूटनेवाले अग्रभाग से युक्त सँड़सियों से वाणों के टुकड़ों को निकाल रहे हैं । इसलिये ये नहीं जानते हैं । अच्छा दूसरी ओर खोजें । ये बहुत ज्यादा दूसरे वीरमनुष्य जुटे हुए हैं । यहाँ चलकर पूछता हूँ । (जाकर)

---

१. वेणीसंहार (८ वीं शताब्दी) के चतुर्थ अंक से उद्धृत ।

संकलिदा वीरमाणुसा। एत्थ गदुअ पुच्छिस्सं (उपगम्य) हंहो जाणह कस्मि उद्देसे कुरुणाहो वट्टइ त्ति। कहं एदे बि(वि) मं देक्खिअ अहिअदरं रोअन्ति। (दृष्ट्वा) ता ण हु एदे बि(त्रि) जाणन्ति। हा दुक्करं क्खु एत्थ वट्टइ। एसा वीरमादा समलविणिहदं पुत्तअं सुणिअ रत्तंसुअणिवसणाए वहूए सह अणुमरदि। (सश्लाघम्) साहु वीरमादे साहु, अण्णस्सिं बि(वि) जम्मन्तरे अणिहदपुत्तआ हुविस्ससि। होदु अण्णदो विच्चिणइस्सं।

(अन्यतो विलोक्य) अअं अब(व)रो बहुप्पहारणिहदकाओ अकिदव्वणप्पडी-आरो एव्व जोहसमूहो चिट्ठइ। इमं सुण्णासणं तुलंगमं उवा(वा)लहिअ रोइदि। णूणं एदाणं एत्थ एव्व सामी वाबा(वा) दिदो त्ति। ता ण हु एदे बि(वि) जाणन्ति। होदु, अण्णदो गदुअ पुच्छिस्सं। (सर्वतो विलोक्य)

(संस्कृतच्छाया)

संकलिता वीरमानुषाः। अत्र गत्वा प्रक्ष्यामि (उपगम्य) अहो जानीथ कस्मिन्नुद्देशे कुरुनाथो वर्तत इति? कथमेतेऽपि मां दृष्ट्वा अधिकतरं रुदन्ति! (दृष्ट्वा) तन्न खल्वेतेऽपि जानन्ति। हा दुष्करं खल्वत्र वर्तते! एषा वीरमाता समरविनिहतं पुत्रकं श्रुत्वा रक्तांशुकनिवसनया वध्वा सहानुम्रियते। साधु वीरमातः! साधु। अन्यस्मिन्नपि जन्मान्तरेऽनिहतपुत्रका भविष्यसि। भवत्वन्यतो विचेष्यामि।

(अन्यतो विलोक्य) अयमपरो बहुप्रहारनिहतकायोऽकृतव्रणप्रतीकार एव योधसमूहस्तिष्ठति। इमं शून्यासनं तुरंगममुपालभ्य रोदिति। नूनमेतेषा-मत्रैव स्वामी व्यापादित इति। तन्न खल्वेतेऽपि जानन्ति। भवत्वन्यतो गत्वा

(हिन्दी-अनुवाद)

अहो! जानते हो किस स्थान पर कुरुनाथ मौजूद हैं? क्यों ये भी मुझे देखकर और अधिक रो रहे हैं। (देखकर) इसलिए ये भी नहीं जानते हैं। हा! यहाँ बड़ी भयंकर स्थिति है। यह वीरमाता युद्ध में मरे हुए पुत्र को सुनकर लालवस्त्र पहिने अपनी वधू के साथ मर रही है। धन्य है वीर माता धन्य है। तू दूसरे जन्म में अवश्य नहीं मारे जानेवाले पुत्रवाली होगी। अच्छा, दूसरी जगह खोजता हूँ। (दूसरी ओर देखकर) यह दूसरा योद्धाओं का समूह खड़ा है जो बहुत ज्यादा प्रहारों से घायल शरीरवाला है तथा जिसने घावों के प्रतिकार (मलहम-पट्टी) को नहीं किया है, इस शून्यासन वाले घोड़े को पाकर रो रहा है। निश्चय ही इनका स्वामी यहीं पर मारा गया है। इसलिए ये भी नहीं जानते हैं। अच्छा दूसरी ओर जाकर पूछता हूं (चारों ओर देखकर) सभी

कहं सव्वो एव्व अवत्थाणुरूवं(वं) विसणं अणुहवन्तो भाअधेअविमुहदाए पज्जाउलो जणो। ता कं एत्थ पुच्छिस्सं कं वा उबा(वा)लहिस्सं। भोदु सअं एव्व एत्थ विआणिस्सं। (परिक्रम्य) देव्वं एव्व दाणिं उबा-(वा)लहिस्सं। हंहो देव्व! एआदसाणं अक्खोहिणीणं णाहो जेट्ठो भादुसअस्स भत्ता गङ्गेयद्दोणअङ्गराअसल्लकिब(व)किदवम्मअस्सत्थामप्प-मुहस्स राअचक्कस्स सअलपहुवीमण्डलेक्कणाहो महाराअदुज्जोहणो बि(वि) अण्णेसीअदि, ण जाणे कस्सिं उद्देसे सो वट्टइ त्ति।

(संस्कृतच्छाया)

प्रक्ष्यामि। (सर्वतो विलोक्य) कथं सर्व एवावस्थानुरूपं व्यसनमनुभवन् भागधेयविमुखतया पर्याकुलो जनः! तत्कमत्र प्रक्ष्यामि, कं वोपालप्स्ये? भवतु स्वयमेवात्र विज्ञास्यामि। (परिक्रम्य) भवतु दैवमेवेदानीमुपालप्स्ये। अहो दैव! एकादशानामक्षौहिणीनां नाथो ज्येष्ठो भ्रातृशतस्य भर्ता गङ्गेय-द्रोणाङ्गराजशल्यकृपकृतवर्माश्वत्थामप्रमुखस्य राजचक्रस्य सकलपृथिवीमण्डलैक-नाथो महाराजदुर्योधनोऽप्यन्विष्यते, न जाने कस्मिन्नुद्देशे स वर्तत इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

मनुष्य अवस्था के अनुरूप कष्ट का अनुभव करते हुए प्रतिकूल भाग्य के कारण कैसे भयभीत हैं। इसलिए यहाँ किससे पूछें अथवा किसको उलहना दें। अच्छा स्वयं ही यहाँ पर खोजता हूँ। (घूमकर) दैव को ही इस समय उलाहना दूँगा। अहो दैव! ग्यारह अक्षौहिणी सेना का पति, सौ भाइयों में बड़ा, गङ्गेय, द्रोण, अङ्गराज, शल्य, कृप, कृतवर्मा, अश्वत्थाम प्रमुख राजसमूहों का स्वामी समस्त पृथ्वी-मण्डल का एक-मात्र नाथ महाराज दुर्योधन भी खोजा जा रहा हैं, न जाने वह किस जगह है।

११. परिहासविजल्पितम्[1]

राजा—सच्चं विअक्खणा विअक्खणा चतुरत्तणेण उत्तीणं विचित्तदाए रीदीणं। ता किं अण्णं कइचूडामणित्तणे ठिदा एसा।

(संस्कृतच्छाया)

राजा—सत्यं विचक्षणा विचक्षणा, चतुरत्वेनोक्तीनां विचित्रतया रीतीनाम्। तत्किमन्यत्, कविचूडामणित्वे स्थिता एषा।

(हिन्दी-अनुवाद)

राजा—उक्तियों (कथनों) की चतुराई एवं रीतियों (ढंगों या प्रकारों) के अनोखेपन

---

१. कर्पूरमञ्जरी (नवीं शताब्दी) के पृ० १६-१९ से उद्धृत।

विदूषकः—(सक्रोधम्) ता उज्जुअं जेव किं ण भणीअदि अच्चुत्तमा विअक्खणा कव्वम्मि अज्ञहमो कविञ्जलो बम्हणो त्ति।

विचक्षणा—अज्ज मा कुप्प। कव्वं जेव दे कइत्तणं पिसुणेदि। जदो कान्ता-रत्तणणिन्दणिज्जे वि अत्थे सुउमारा दे वाणी लम्बत्थणीए विअ एक्कावली तुन्दिलाए विअ कञ्चुलिआ काणए विअ कज्जलसलाआ ण सुट्ठुदरं रमणिज्जा।

विदूषकः—तुज्झ उण रमणिज्जे वि अत्थे ण सुन्दरा सद्दावली। कणअक्कडि-सुत्तए विअ लोहकिङ्किणीमाला पडिवट्टए विअ तसरविरअणा गोरङ्गीए विअ चन्दणचच्चा ण चङ्गत्तणं अवलम्बेदि। तधा वि तुमं वण्णीअसि।

(संस्कृतच्छाया)

विदूषकः—(सक्रोधम्) तदृज्वेव किं न भण्यते अत्युत्तमा विचक्षणा काव्येऽधमः कपिञ्जलो ब्राह्मण इति।

विचक्षणा—आर्य ! मा कुप्य, काव्यमेव ते कवित्वं पिशुनयति। यतो कान्तारत्व-निन्दनीयेऽप्यर्थे सुकुमारा ते वाणी लम्बस्तन्या इवैकावली तुन्दिलाया इव कञ्चुलिका काणाया इव कज्जलशलाका न सुष्ठुतरं रमणीया।

विदूषकः—तव पुना रमणीयेऽप्यर्थे न सुन्दरा शब्दावली। कनककटिसूत्र इव लोहकि-किणीमाला, प्रतिपट्ट इव त्रसरविरचना, गौराङ्ग्या इव चन्दनचर्चा, न चङ्गत्वं अवलम्बते। तथापि त्वं वर्ण्यसे।

(हिन्दी-अनुवाद)

से विचक्षणा सचमुच विचक्षणा (विदुषी) है। इसलिए और क्या, यह कवि-चूड़ामणि (अर्थात् कवियों में अग्रगण्य) के रूप में विद्यमान है।

विदूषक—(क्रोध के साथ) तो सीधे ही क्यों नहीं कह दिया जाता (कि) काव्य में विचक्षणा एकदम बढ़िया तथा कपिंजल ब्राह्मण एकदम घटिया है।

विचक्षणा—आर्य ! क्रोधित न हों। काव्य ही तुम्हारे कवित्व को बतला रहा है। कारण, जंगलीपन के निन्दनीय अर्थ में (प्रयुक्त) तुम्हारी सुकुमार वाणी लम्बे स्तनोंवाली (बूढ़ी स्त्री) की एक लड़ की माला के समान, तोंद वाली (बड़े पेटवाली) स्त्री की चोली के समान तथा कानी औरत के काजल-शलाका के समान एकदम सुन्दर नहीं है।

विदूषक—और तुम्हारी, रमणीय-अर्थ होने पर भी, शब्दावली सुन्दर नहीं है। (इसलिए) सोने के कटिसूत्र में लोहे के दानों के समूहों के समान, उलटे कपड़े पर कसीदे के काम के समान, गोरी स्त्री के चन्दन-लेप के समान सुन्दरता को प्राप्त नहीं करती है। फिर भी तुम्हारी प्रशंसा की जा रही है।

विचक्षणा—अज्ज मा कुप्प। का तुम्हेहिं समं पाडिसिद्धी। जदो तुमं णाराओ विअ णिरक्खरो वि रदणतुलाए णिउञ्जीअसि। अहं उण तुला विअ लद्धक्खरा वि ण सुवण्णतुलणे णिउञ्जीआमि।

विदूषकः—एवं मं हसन्तीए तुह वामं दक्खिणं च जुहिट्ठिरजेट्ठभादरणामहेअं अङ्गं तर्डात्ति उप्पाडइस्सं।

विचक्षणा—अहं पि उत्तरफग्गुणीपुरस्सरणक्खत्तणामहेअं अङ्गं तुह तडत्ति खण्डिस्सं।

राजा—वअस्स मा एवं भण। कइत्तणे ठिदा एसा।

(संस्कृतच्छाया)

विचक्षणा—आर्य ! मा कुप्य। का युष्माभिः सह प्रतिस्पर्धा ? यतस्त्वं नाराच इव निरक्षरोऽपि रत्नतुलायां नियुज्यसे। अहं पुनस्तुलेव लब्धाक्षरापि न सुवर्णतोलने नियुज्ये।

विदूषकः—एवं मां हसन्त्यास्तव वामं दक्षिणं च युधिष्ठिरज्येष्ठभ्रातृनामधेयमङ्गं झटिति उत्पाटयिष्यामि।

विचक्षणा—अहमप्युत्तराफाल्गुनीपुरःसरनक्षत्रनामधेयमङ्गं तव झटिति खण्डयिष्यामि।

राजा—वयस्य ! मैवं भण। कवित्वे स्थितैषा।

(हिन्दी-अनुवाद)

विणक्षणा—आर्य ! क्रोधित न हों। तुम्हारे साथ (मेरी) क्या बराबरी, क्योंकि तुम छोटी तराजू (काँटा—जिससे रत्न तौला जाता है) के समान निरक्षर होते हुए भी रत्न को तौलने में नियुक्त किये जाते हो और मैं बड़ी तराजू की तरह लब्धाक्षर होते हुए भी सोने को तौलने में नियुक्त नहीं की जाती हूँ। अर्थात् तुम निरक्षर (मूर्ख) होते हुए भी उत्तम-पद पर हो और मैं लब्धाक्षरा (विदुषी) होती हुई भी हीन-पद पर हूँ।

विदूषक—इस प्रकार मुझ पर हँसनेवाली तेरा बांया तथा दाहिना युधिष्ठिर के बड़े भाई के नामवाले अङ्ग (कर्ण) को जल्दी से उखाड़ कर फेंक दूंगा।

विचक्षण—मैं भी तेरे उत्तराफाल्गुनी के पश्चात् आनेवाले नक्षत्र के नामवाले अङ्ग (हस्त) को जल्दी से खण्डित कर दूंगी।

राजा—मित्र ! ऐसा न कहो। ये कवित्व में स्थित है।

विदूषकः—(सक्रोधम्) ता उज्जुअं जेव किं ण भणीअदि अम्हाणं चेडिआ हरिउड्ढणन्दिउड्ढपोट्टिसहालप्पहुदीणं पि पुरदो सुकइ त्ति। (इति परिक्रामति)

(संस्कृतच्छाया)

विदूषकः—(सक्रोधम्) तदृज्वेव किं न भण्यते अस्माकं चेटिका हरिवृद्धनन्दिवृद्ध-पोट्टिशहालप्रभृतीनामपि पुरतः सुकविरिति। (इति परिक्रामति)

(हिन्दी अनुवाद)

विदूषक—(सक्रोधम्) तो सीधे ही क्यों नहीं कहा जाता है कि हमारी चेटी हरिवृद्ध, नन्दिवृद्ध, पोट्टिश, हाल आदि कवियों के सामने भी सुकवि है। (ऐसा कहकर घूमता है)।

१२. कपट-प्रतिस्पर्द्धा[1]

विचक्षणा—(विहस्य) तहिं गच्छ जहिं मे पढमसाहुलिआ गदा।

विदूषकः—(वलितग्रीवम्) तुमं उण तहिं गच्छ जहिं मे मादाए पढमा दन्तावली गदा। ईदिसस्स राअउलस्स भद्दं भोदु जहिं चेडिआ वम्हणेण समसीसिआए दीसदि मइरा पञ्चगव्वं च एक्कस्सिं भण्डए करीअदि कच्चं माणिक्कं च समं आहरणे पउञ्जीअदि।

(संस्कृतच्छाया)

विचक्षणा—(विहस्य) तत्र गच्छ यत्र मे प्रथमशाटिका गता।

विदूषकः—(वलितग्रीवम्) त्वं पुनस्तत्र गच्छ यत्र मे मातुः प्रथमा दन्तावली गता। ईदृशस्य राजकुलस्य भद्रं भवतु, यत्र चेटिका ब्राह्मणेन समशीर्षिकया दृश्यते, मदिरा पञ्चगव्यं चैकस्मिन् भाण्डे क्रियते, काचं माणिक्यं च सममाभरणे प्रयुज्यते।

हिन्दी-अनुवाद)

विचक्षणा— (हँसकर) वहाँ जाओ जहाँ मेरा पहला वस्त्र गया है।

विदूषक— (गर्दन टेढ़ी कर) और तुम वहाँ जाओ जहाँ मेरी मां की पहली दन्तावली गई है। ऐसे राजकुल का कल्याण हो जहाँ चेटिका (=दासी) ब्राह्मण के साथ बराबरी से देखी जाती है, मदिरा तथा पञ्चगव्य एक ही पात्र में किया जाता है, काँच एवं मानिक एक साथ आभूषण में प्रयुक्त किये जाते हैं।

---

१. कर्पूरमञ्जरी के पृ० १९-२२ से उद्धृत।

विचक्षणा—इध राअउले तं दे भोदु कण्ठट्ठिदं जं भअवं तिलोअणो सीसे समुव्वहदि तेण अ दे मुहं चूरीअदु जेण असोअतरू दोहलं लहदि।

विदूषकः—आ दासीए पुत्ति टेण्टाकराले कोससदचट्टिणि रच्छालोट्टणि एवं मे भणासि। ता मह महावम्हणस्स वअणेण तं तुमं लह जं फग्गुणसमए सोहञ्जणो दोहलं लहदि जं च पामराहिंतो गलिबइल्लो लहदि।

विचक्षणा—अहं उण तुह एवं भणन्तस्स णेउरस्स विअ पाअलग्गस्स पाएण मुहं चूरइस्सं। अण्णं च उत्तरासाढापुरस्सरणक्खत्तणामहेअं अङ्गजुअलं उप्पाडिअ घल्लिस्सं।

(संस्कृतच्छाया)

विचक्षणा—इह राजकुले तत्ते भवतु कण्ठस्थितं यद्भगवांस्त्रिलोचनः शीर्षे समुद्वहति। तेन च ते मुखं चूर्ण्यतां येनाशोकतरुर्दोहदं लभते।

विदूषकः—आः दास्याः पुत्रि! टेण्टाकराले! कोससदचट्टणि! रथ्यालोट्टणि! एवं मां भणसि? तन्मम महाब्राह्मणस्य वचनेन तत्त्वं लभस्व यत्फाल्गुन-समये शोभाञ्जनो दोहदं लभते यच्च पामरेभ्यो बलीवर्दो लभते।

विचक्षणा—अहं पुनस्तवेवं भणतो नूपुरस्येव पादलग्नस्य पादेन मुखं चूर्णयिष्यामि। अन्यच्च उत्तराषाढानक्षत्रनामधेयमङ्गयुगलमुत्पाट्य क्षेप्स्यामि।

(हिन्दी-अनुवाद)

विचक्षणा—इस राजकुल में तुम्हारे गले में वह डाला जाय जो भगवान् शंकर सिर पर धारण करते हैं और उससे तेरा मुख चूर्ण कर दिया जाय जिससे अशोक का वृक्ष दोहद (मनोरथ) प्राप्त करता है।

विदूषक—अरे दासी की पुत्री! जुआखाने की चण्डिका! सैकड़ों झूठी शपथें खाने वाली! गली में लोटने वाली! मुझसे ऐसा कहती है। तो मुझ महा-ब्राह्मण के कहने से तुम वह पाओ जिससे फाल्गुन के समय सहिजन (के वृक्ष) का मनोरथ पूर्ण होता है या जो चीज बैल किसानों से पाता है।

विचक्षणा—और मैं इस प्रकार पैर में लगे नूपुर की तरह बोलनेवाले तुम्हारे मुख को पैर से कुचल डालूंगी। और उत्तराषाढ के पश्चात् आनेवाले नक्षत्र के नामवाले अङ्ग-युगल (दोनों कानों) को उखाड़कर फेंक दूंगी।

विदूषकः—(सक्रोधं परिक्रामति जवनिकान्तरे किंचिदुच्चैः) ईदिसं राअउलं दूरे वन्दीअदि जहिं दासी बम्हणेण समं पाडिसिद्धि करेदि। ता अज्जप्पहुदि णिअवसुंधराबम्हणीए चलणसुस्सूसओ भविअ घरे ज्जेव चिट्ठिस्सं।

(सर्वे हसन्ति)

(संस्कृतच्छाया)

विदूषकः—(सक्रोधं परिक्रामति जवनिकान्तरे किंचिदुच्चैः) ईदृशं राजकुलं दूरे वन्द्यते, यत्र दासी ब्राह्मणेन समं प्रतिस्पर्धां करोति। तदद्य प्रभृति निजवसुन्धरा-ब्राह्मण्याश्चरणशुश्रुषुर्भूत्वा गृह एव स्थास्यामि।

(सर्वे हसन्ति)

(हिन्दी-अनुवाद)

विदूषक—(क्रोध सहित घूमता है तथा पर्दे के भीतर से कुछ जोर से) ऐसे राजकुल को दूर से ही नमस्कार किया जाता है जहाँ दासी ब्राह्मण के साथ प्रतिस्पर्धा करती है। इसलिए आज से लेकर अपनी वसुन्धरा ब्राह्मणी (नाम की पत्नी) का चरणसेवक बन कर घर में ही रहूँगा।

(सब हँसते है)

मागधी-प्राकृत

प्रमुख विशेषताएँ

१. सरल व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) ज>य, जानाति=याणदि, जनपदः = यणवदे ।[१]

(२) य (अपरिवर्तित), याति=यादि, यदि=यदि ।[१]

(३) र>ल, धीवरः=धीवले, नरः=णले ।[२]

(४) ष, स>श, माषः=माशे, पुरुषः=पुलिशे, हंसः=हंशे, नासा=णाशा ।[३]

(५) श (अपरिवर्तित), शरणः=शलणे, शत्रुः = शत्तू ।[४]

२. संयुक्त व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) क्ष>स्क, राक्षसः=लस्कशे, दक्षः=दस्के ।[५]

(२) च्छ>श्च, गच्छ=गश्च, पृच्छति=पुश्चदि ।[६]

(३) ट्ट, ष्ठ>स्ट, भट्टारिका=भस्टालिका, कोष्ठागारम्=कोस्टागालं ।[७]

(४) द्य, र्ज, र्य>य्य, मद्यं = मय्यं, दुर्जनः=दुय्यणे, कार्यः = कय्ये ।

---

१. ज-द्य-यां यः ॥ ८।४।२९२ । हे० ॥
मागधी में ज, द्य, तथा य के स्थान पर य होता है ।

२. र-सोर्ल-शौ ॥ ८।४।२८८ । हे० ॥
मागधी में र तथा स को क्रमशः ल तथा श होते हैं ।

३. षसोः शः ॥ ११।३ । वर० ॥
मागधी में षकार एवं सकार के स्थान पर शकार हो जाता है ।

४. देखिए पि० प्रा० पारा नं० २२१ ।

५. क्षस्य स्कः ॥ ११।८ । वर० ॥
मागधी में क्ष के स्थान पर स्क हो जाता है ।

६. छस्य श्चोनादौ ॥ ८।४।२९५ । हे० ॥
अनादि छ को तालव्य श से युक्त च हो जाता ।

७. ट्ट-ष्ठयोस्टः ॥ ८।४।२९० । हे० ॥
मागधी में ट्ट तथा ष्ठ को स्ट होता है ।

(५) न्य, ण्य, ज्ञ, ञ्ज > ञ्ञ, अभिमन्युः=अहिमञ्ञू, पुण्यवान्=पुञ्ञवन्ते, अवज्ञा=अवञ्ञा, अञ्जलिः=अञ्ञली ।[१]

(६) स्थ, र्थ>स्त, उपस्थितः=उवस्तिदे, सार्थवाहः=शस्तवाहे ।[२]

(७) ष्, स्+व्यञ्जन>स्+व्यञ्जन, कष्टम्=कस्टं, निष्फलम्=णिस्फलं, विस्मयः=विस्मये, मस्करी=मस्कली ।[३]

३. शब्द-रूप

(१) अ+सि (सु >ए, एष मेषः=एशे मेशे, पुरुषः=पुलिशे ।[४]

(२) ङस्>आह (विकल्प से), शोणितस्य कुम्भः=शोणिदाह कुम्भे ।[५]

(३) आम्>आहँ (विकल्प से), कर्मणाम्=कम्माहँ, युष्माकम्=तुम्हाहँ ।[६]

४. आदेश

(१) अहम्>हके, हगे, अहके; अहं भणामि=हके, हगे, अहके भणामि ।[७]

(२) तिष्ठ>चिष्ठ, तिष्ठ रे,=चिष्ठ रे, तिष्ठति=चिष्ठदि ।[८]

(३) शृगाल>शिआल, शिआलक; शृगाल आगच्छति=शिआले, शिआलके आगच्छदि ।[९]

---

१. न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः ॥ ८।४।२९३ । हे० ॥
मागधी में न्य, ण्य, ज्ञ तथा ञ्ज को ञ्ञ होता है ।

२. स्थ-र्थयोस्तः ॥ ८।४।२९१ । हे० ॥
मागधी में स्थ तथा र्थ को सकाराक्रान्त त होता है ।

३. स-षोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥ ८।४।२८९ । हे० ॥
ग्रीष्म शब्द को छोड़कर संयुक्त अक्षर में स्थित स तथा ष को स होता है ।

४. अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् ॥ ८।४।२८७ । हे० ॥
मागधी में सु परे अ को ए होता है ।

५. अवर्णाद्वा ङसो डाहः ॥ ८।४।२९९ । हे० ॥
मागधी में अवर्ण से परे ङस् को विकल्प से डाह (आह) आदेश होता है ।

६. आमो डाहँ वा ॥ ८।४।३०० । हे० ॥
मागधी में अवर्ण से परे आम् को विकल्प से डाहँ (आहँ) आदेश होता है ।

७. अस्मदः सौ हके हगे अहके ॥ ११।९ । वर० ॥
सु परे रहते अस्मद् शब्द को हके हगे एवं अहके होते हैं ।

८. तिष्ठश्चिष्ठः ॥ ८।४।२१८ । हे० ॥
मागधी में स्था धातु से बने तिष्ठ के स्थान पर चिष्ठ आदेश होता हैं ।

९. शृगाल-शब्दस्य शिआला शिआलका ॥ ११।१७ वर० ॥
शृगाल शब्द को शिआल तथा शिआलक होते हैं ।

(४) हृदय>हडक्क, हृदये आदरो मम=हडक्के आदले ममं।[1]

५. कृत्प्रत्यय

(१) क्त्वा>दाणि, सोढ्वा गतः=शहिदाणि गडे, कृत्वा आगतः=करिदाणि आअडे।[2]

(२) क्त+सु>दु, हसितः=हशिदु, हशिदे।[3]

(२) क्त>ड, कृतः=कडे, मृतः=मडे, गतः=गडे।[4]

(शेष नियम शौरसेनी-प्राकृत के समान हैं)

१३. प्रत्यभिज्ञानकम्[5]

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अले कुम्भिलआ। कहेहि, कहिं तुए एशे मणिबन्धणुक्किण्णणामहेए लाअकीए अङ्गुलीअए शमाशादिए?

(संस्कृतच्छाया)

(ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धपुरुषमादाय रक्षिणौ च)

रक्षिणौ—(ताडयित्वा) अरे कुम्भीलक! कथय। कुत्र त्वयैतन्मणिबन्धनोत्कीर्णनामधेयं राजकीयमङ्गुलीयकं समासादितम्?

(हिन्दी-अनुवाद)

(इसके अनन्तर पुलिस का प्रधान श्याल तथा पीछे की ओर (हाथ) बंधे हुए पुरुष को लेकर दो सिपाही प्रवेश करते हैं।

दोनों सिपाही—(मारकर) अरे चोट्टे! बता, तुम्हारे द्वारा यह जड़े हुए मणि एवं खुदे हुए नाम वाली राजा की अंगूठी कहाँ से पाई गई?

---

१. हृदयस्य हडक्कः ॥ ११।६। वर० ॥
हृदय शब्द को हडक्क आदेश होता है।

२. क्त्वो दाणिः ॥ ११।१६। वर० ॥
क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर दाणि आदेश होता है।

३. क्तान्तादुश्च ॥११।११। वर० ॥
क्त प्रत्ययान्त शब्द से परे सु को उ होता है।

४. कृञ्मृङ् गमांक्तस्य डः ॥ ११।१५। वर० ॥
डुकृञ् (करणे) मृङ् (प्राणत्यागे) तथा गम्लृ (गतौ) धातुओं से परे क्त को ड हो जाता है।

५. अभिज्ञानशाकुन्तल के ५ वें अंक के विष्कम्भ (पृ० २१७-२२१) से उद्धृत।

पुरुषः—(भीतिं नाटितकेन) पशीदन्ते(न्तु) भावमिश्शे(श्शा)। अहके ण ईदिश-कम्मकाली।

प्रथमः—किं खु शोहणे बम्हणे त्ति कलिअ लण्णा पडिग्गहे दिण्णे ?

पुरुषः—शुणुह दाणिं। अहके शक्कावदालब्भन्तलवाशी धीवले।

द्वितीयः—पाडच्चला। किं अम्हेहिं जादी पुच्छिदा ?

श्यालः[1]—सूअअ ! कहेदुं सव्वं अणुक्कमेण। मा णं अन्तरा पडिबन्धह।

उभौ—यं आबु(वु)त्ते आणबे(वे)दि कहेहि।

पुरुषः—अहके जालुग्गालादीहिं मच्छबन्धणोबा(वा)एहिं कुडुम्बभलणं कलेमि।

श्यालः—(विहस्य) विसुद्धो दाणिं आजीवो।

(संस्कृतच्छाया)

पुरुषः—(भीतिं नाटितकेन) प्रसीदन्तु भावमिश्राः। अहं नेदृशकर्मकारी।

प्रथमः—किं खलु शोभनो ब्राह्मण इति कृत्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः ?

पुरुषः—शृणुतेदानीम्। अहं शक्रावताराभ्यन्तरवासी धीवरः।

द्वितीयः—पाटच्चर ! किमस्माभिर्जातिः पृष्टा ?

श्यालः—सूचक ! कथयतु सर्वमनुक्रमेण। मैनमन्तरा प्रतिबध्नीत।

उभौ—यदावुत्त आज्ञापयति। कथय।

पुरुषः—अहं जालोद्गारादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि।

श्यालः—(विहस्य) विशुद्ध इदानीमाजीवः।

(हिन्दी-अनुवाद)

पुरुष—(भय के अभिनय के साथ) महाशय ! प्रसन्न हों। मैं ऐसा (=चोरी का) काम करनेवाला नहीं हूँ।

पहला सिपाही—तो क्या उत्तम ब्राह्मण यह (जान) करके राजा के द्वारा (इसका) दान दिया गया है।

पुरुष—सुनिये तो। मैं शक्रावतार में रहनेवाला धीवर हूँ।

दूसरा सिपाही—चोर कहीं का ? क्या हम लोगों के द्वारा जाति पूछी गई है ?

श्याल—सूचक ! सब कुछ क्रम से कहे। उसे बीच में मत टोको।

दोनों (सिपाही)—श्रीमान् जी ! जैसी आज्ञा दें। कह।

पुरुष—मैं जाल से निकालने आदि रूप मछलियों को पकड़ने के उपाय से कुटुम्ब का भरण करता हूँ।

श्याल—(हँसकर) तब तो बड़ी शुद्ध आजीविका है।

---

१. श्याल द्वारा शौरसेनी भाषा का प्रयोग किया गया।

पुरुषः—भट्टा मा एव्वं भण ।

शहजे किल जे विणिन्दिए ण हु दे कम्म विवज्जणीअए ।
पशुमालणकम्मदालुणे अणुकम्पामिदु एव्व शोत्तिए ॥

श्यालः—तदो तदो ।

पुरुषः—एक्कश्शिं दिअशे खण्डशो लोहिअमच्छे मए कप्पिदे जाव । तश्श उदलब्भन्तले एदं लदणभाशुलं अङ्गुलीअअं देक्खिअं । पच्छा अहके शे विक्कआअ दंशअन्ते गहिदे भावमिश्शेहिं । मालेह वा मुञ्चेह वा, अअं शे आअमवुत्तन्ते ।

(संस्कृतच्छाया)

पुरुषः—भर्त्तः ! मैवं भण ।

सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम् ।
पशुमारणकर्मदारुणोऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः ॥

श्यालः—ततस्ततः

पुरुषः—एकस्मिन्दिवसे खण्डशो रोहितमत्स्यो मया कल्पितो यावत् । तस्योदराभ्यन्तर एतद्रत्नभासुरमङ्गुलीयकं दृष्टम् । पश्चादहमस्य विक्रयाय दर्शयन्गृहीतो भावमिश्रैः । मारयत वा मुञ्चत वा, अयमस्यागमवृत्तान्तः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

पुरुष—स्वामी । ऐसा न कहें ।

जो निन्दित काम जन्म से चला आ रहा है, वह (काम) नहीं छोड़ना चाहिए । अनुकम्पा से मृदु उत्तम ब्राह्मण भी पशु के मारने रूप कर्म में कठोर होता है ।

श्याल—उसके बाद उसके बाद ?

पुरुष—एक दिन रोहित मछली ज्यों ही मेरे द्वारा काटी गई, उसके पेट के भीतर यह रत्न से चमकती हुई अंगूठी दिखी । बाद में मैं इसे बेचने के लिए दिखाता हुआ महाशयों द्वारा पकड़ लिया गया । मारिए या छोड़िए, यह इसके आने का वृत्तान्त है ।

१४. चट्टकुर्व्यां प्रभातम्[1]

(ततः प्रविशत्यार्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः—अज्जा। कलेध धम्मशञ्चअं।
शञ्जम्मध णिअपोटं णिच्चं जग्गेध झाणपडहेण।
विशमा इन्दियचोला हलन्ति चिलशञ्चिदं धम्मं॥

अवि(वि)अ—
अणिच्चदाए पेक्खिअ णवल दाव धम्माण शलण म्हि।
पञ्चज्जण जेण मालिदा इत्थिअ मालिअ ना(गा)म लक्खिदे।
अब(व)ले अ चण्डाल मालिदे अवशं शे णल शग्ग गाहदि॥

(संस्कृतच्छाया)

(ततः प्रविशत्यार्द्रचीवरहस्तो भिक्षुः)

भिक्षुः—अज्ञाः! कुरुत धर्मसञ्चयम्।
संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसञ्चितं धर्मम्॥
अपि च—
अनित्यतया प्रेक्ष्य केवलं तावद्धर्माणां शरणमस्मि।
पञ्चजना येन मारिताः स्त्रियं मारयित्वा ग्रामो रक्षितः।
अबलश्च चाण्डालो मारितोऽवश्यं स नरः स्वर्गं गाहते॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(तदनन्तर गीला कपड़ा हाथ में लिए हुए भिक्षु प्रवेश करता है)

भिक्षु—मूर्खों (अज्ञानियों)! धर्म का सञ्चय करो। अपने पेट को नियंत्रण में रखो, ध्यान रूपी नगाड़े से नित्य जागते रहो, (क्योंकि) इन्द्रिय रूपी भयंकर चोर चिर सञ्चित धर्म का हरण करते हैं।
और भी—
(संसार को) अनित्यता से युक्त देखकर मैं अब केवल धर्म की शरण में (आ गया) हूँ।

जिसके द्वारा पांच मनुष्य मारे गये (अर्थात् जिसके द्वारा पांच इन्द्रियों को वश में कर लिया गया), स्त्री को मारकर ग्राम की रक्षा कर ली गई (अर्थात् अविद्या को नष्टकर अपने-आप को बचा लिया गया), निर्बल चाण्डाल (मार=कामदेव)

---

१. मृच्छकटिक (५वीं शताब्दी) के आठवें अंक (पृ० ११२-११३) से उद्धृत।

शिल मुण्डिदे तुण्ड मुण्डिदे चित्त ण मुण्डिदे कीश मुण्डिदे।
जाह उण अ चित्त मुण्डिदे, शाहु, शुट्ठु (स्ठु) शिल ताह मुण्डिदे ॥
गिहिदकशाओदए एशे चीवले, जाव एदं लश्टि(स्टि)अशालकाह केलके उज्जाणे पविशिअ पोक्खलिणीए पक्खालिअ लहुं लहुं अब(व)क्कमिश्शं।

(परिक्रम्य तथा करोति)

(नेपथ्ये) चिश्ट (ष्ठ) ले दुश्ट (स्ट) शमणका ! चिश्ट (ष्ठ) चिश्ट (ष्ठ)।

भिक्षुः—(दृष्ट्वा सभयम) ही अविद ही माणहे। एशे शे लाअशालशण्ठाणे आअदे एक्केण भिक्खुणा अब(व)लाहे किदे अण्णं पि जहिं जहिं भिक्खुं पेक्खदि तहिं तहिं गोण व्व णाशं भिन्दिअ ओवाहेदि। ता कहिं अशलणे शलणं

(संस्कृतच्छाया)

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं चित्तं न मुण्डितं किं मुण्डितम्।
यस्य पुनश्च चित्तं मुण्डितं साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम् ॥

गृहीतकषायोदकमेतच्चीवरं, यावदेतत् राष्ट्रियश्यालकस्योद्याने प्रविश्य पुष्करिण्यां प्रक्षाल्य लघु लघु अपक्रमिष्यामि।

(इति परिक्रम्य तथा करोति)

(नेपथ्ये) तिष्ठ रे दुष्टश्रमणक ! तिष्ठ तिष्ठ।

भिक्षुः—(दृष्ट्वा सभयम्) ही अविद ही मानवाः। एष स राजश्यालसंस्थानक आगतः। एकेन भिक्षुणा अपराधे कृते, अन्यमपि यत्र यत्र भिक्षुं पश्यति तत्र तत्र गामिव नासां विद्ध्वा अपवाहयति। तत् कुत्राशरणः शरणं गमिष्यामि ?

(हिन्दी-अनुवाद)

मार दिया गया, वह मनुष्य अवश्य स्वर्ग जाता है। शिर मुड़ाया, मुँह मुड़ाया (किन्तु) चित्त नहीं मुड़ाया (अर्थात् स्वच्छ किया) तो (शिर तथा मुँह) क्यों मुड़ाया? लेकिन जिसका चित्त अच्छी तरह से मुड़ा (स्वच्छ किया) हुआ है, उसका शिर भी ठीक से मुड़ा हुआ है।

इस चीवर ने गेरुआ रंग पकड़ लिया हैं, इसे राजा के साले के बगीचे में घुसकर (तथा) पोखरी में धोकर जल्दी-जल्दी निकल आऊँगा।

(घूमकर वैसा करता है)

(नेपथ्य से) ठहर रे दुष्ट श्रमण ! ठहर ठहर।

भिक्षु—(देखकर भय के साथ) यह वह राजा के साले का आकार आ गया है। एक भिक्षु के द्वारा अपराध किए जाने पर दूसरे भिक्षु को भी जहाँ-जहाँ देखता है, वहाँ-वहाँ बैल की तरह नाक को छेदकर निकालता है। इसलिए शरणहीन

गमिश्शं ? अधवा भश्टा(स्टा)लके ज्जेव्व बुद्धे मे शलणे ।

(प्रविश्य सखड्गेन विटेन सह)

शकारः—चिश्ट (ष्ठ) ले दुश्ट (स्ट) शमणका ! चिश्ट (ष्ठ) चिश्ट (ष्ठ) आबा(वा)-णिअमज्झपविश्ट(स्ट)श्श विअ लत्तमूलअश्श शीशं ते मोडइश्शं ।

(इति ताडयति)

(संस्कृतच्छाया)

अथवा भट्टारक एव बुद्धो मे शरणम् ।

(प्रविश्य सखड्गेन विटेन सह)

शकारः—तिष्ठ रे दुष्ट श्रमणक ! तिष्ठ । आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते मोटयिष्यामि ।

(इति ताडयति)

(हिन्दी-अनुवाद)

मैं कहाँ पर शरण के लिए जाऊँ, अथवा भट्टारक बुद्ध ही मेरे शरणभूत है ।

(तलवार लिए हुए विट के साथ प्रवेशकर)

शकार—ठहर रे दुष्ट श्रमण, ठहर ठहर । मदिरालय में लाई गई लाल मूली की तरह तेरे शिर को तोड़ता हूँ ।

(ऐसा कहकर मारता है)

●

१५. दुर्वृत्तवृत्तम्[1]

शकारः—अत्तपलित्ताणे भावे गदे अदंशणं चेडे बि(वि) पाशादबालग्गपदोलिआए णिअलपूलिदं कदुअ थाब(व)इश्शं । एव्वं मन्ते लक्खिदे भोदि । ता गच्छामि, अधवा पेक्खामि एदं किं एशा मला आदु पुणो

(संस्कृतच्छाया)

शकारः—आत्मपरित्राणे भावो गतोऽदर्शनम् । चेटमपि प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायां निगडपूरितं कृत्वा स्थापयिष्यामि । एवं मन्त्रो रक्षितो भवति । तद् गच्छामि, अथवा पश्यामि एताम्, किमेषा मृता ? अथवा पुनरपि

(हिन्दी-अनुवाद)

शकार—अपने बचाव के लिए मान्य (विट) अदृश्य हो गये । चेट को भी बेड़ी बाँधकर प्रासाद के आगे नव-निर्मित बरामदे में रखूंगा । इस प्रकार से रहस्य रक्षित होगा । तो (अब मैं) जाता हूँ, अथवा देखता हूँ इसको (कि) क्या ये मर गई

---

१. मृच्छकटिक के अष्टम अंक (पृ० १३२-१३३) से उद्धृत ।

बि(वि) मालइश्शं। (अवलोक्य) कधं शुमला। भोदु, एदिणा पावालेण पच्छादेमि णं। अधवा णामङ्किदे एशे ता के बि(वि) अज्जपुलिशे पच्चहिजाणेदि। भोदु, एदिणा वादालीपुञ्जिदेण शुक्खपण्णपुडेण पच्छादेमि। (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भोदु, एव्वं दाव। शम्पदं अधिअलणं गच्छिअ ववहालं लिहाबे(वे)मि। जधा अत्थश्श कालणादो शट्ठवाह-पुत्तचालुदत्ताकेण मम केलकं पुप्फकलण्डकं जिण्णुज्जाणं पवेशिअ वशन्तशेणिआ वाबा(वा)दितेत्ति।

चालुदत्तविणाशाय कलेमि कब(व)डं णवं।
णअलीए विशुद्धाए पशुघादं व्व दालुणं॥

भोदु, गच्छामि (इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा सभयम्) अविद मादिके ? जेण

(संस्कृतच्छाया)

मारयिष्यामि। (अवलोक्य) कथं सुमृता ! भवतु, एतेन प्रावारकेण प्रच्छाद-याम्येनाम्। अथवा नामाङ्कित एषः, तत्कोऽपि आर्यपुरुषः प्रत्यभिज्ञास्यति। भवतु, एतेन वातालीपुञ्जितेन शुष्कपर्णपुटेन प्रच्छादयामि। (तथा कृत्वा विचिन्त्य) भवतु, एवं तावत्। साम्प्रतमधिकरणं गत्वा व्यवहारं लेखयामि, यथा अर्थस्य कारणात् सार्थवाहपुत्रचारुदत्तकेन मदीयं पुष्पकरण्डकं जीर्णोद्यानं प्रविश्य वसन्तसेना व्यापादितेति।

चारुदत्तविनाशाय करोमि कपटं नवम्।
नगर्यां विशुद्धायां पशुघातमिव दारुणम्॥

भवतु, गच्छामि (इति निष्क्रम्य दृष्ट्वा सभयम्) अविदमादिके। येन

(हिन्दी-अनुवाद)

है या फिर से भी मारूं। (देखकर) कैसी एक-दम मर गई। अच्छा, इस वस्त्र (चादर) से इसको ढक देता हूँ। अथवा यह नामाङ्कित (नाम लिखा हुआ) है इसलिए कोई भी आर्यपुरुष पहचान लेगा। अच्छा, हवा से इकट्ठे हुए इस सूखे पत्तों के ढेर से ढक देता हूँ (वैसा करके विचारकर) अच्छा, इस प्रकार अब (ठीक है)। इस समय न्यायालय जाकर विवाद (रिपोर्ट) लिखाता हूँ कि धन के लिए सार्थवाह पुत्र चारुदत्त के द्वारा मेरे पुष्पकरण्डक (नामक) पुराने उद्यान में प्रवेश कर वसन्तसेना मार डाली गई।

विशुद्ध नगरी में दारुण पशु-हत्या के समान चारुदत्त के विनाश के लिए (एक) नये कपट को करता हूँ॥

अच्छा जाता हूँ (इस प्रकार निकलकर तथा देखकर भयपूर्वक)

जेण गच्छामि मग्गेण तेण ज्जेव्व एशे दुश्ट(स्ट)शमणके गहिदकशाओदकं चीवलं गेण्हिअ आगच्छदि। एशे मए णश्शिअवाहिदे कदवेले कदाबि(वि) मं पेक्खिअ एदेण मालिद त्ति पआशइश्शदि। ता कधं गच्छामि (अवलोक्य) भोदु एवं अद्धपडिदं पाआलखण्डं उल्लङ्घिअ गच्छामि।

एशे म्हि तुलिदतुलिदे लङ्काणअलीए गअण गच्छन्ते।
भूमाए पाआले हणूमशिहले विअ महेन्दे॥

(इति निष्क्रान्तः)

(संस्कृतच्छाया)

येन गच्छामि मार्गेण तेनैवेष दुष्टश्रमणको गृहीतकषायोदकं चीवरं गृहीत्वा आगच्छति। एष मया नसि छित्वा वाहितः कृतवैरः कदापि मां प्रेक्ष्यैतेन मारितेति प्रकाशयिष्यति। तत्कथं गच्छामि ? (अवलोक्य) भवतु, एतमर्घपतितं प्राकारखण्डमुल्लङ्घ्य गच्छामि।

एषोऽहं त्वरितत्वरितो लङ्कानगर्यां गगने गच्छन्।
भूम्यां पाताले हनुमच्छिखर इव महेन्द्रः॥

(इति निष्क्रान्तः)

(हिन्दी-अनुवाद)

हा राम। जिस-जिस (रास्ते) से जाता हूँ उसीसे यह दुष्ट श्रमण गेरुआ रंग से रंगे हुए चीवर को लेकर आता है। मेरे द्वारा नाक छेदकर निकाला गया (अतएव) वैर को प्राप्त यह कहीं मुझे देखकर 'इसके द्वारा मारी गई है' ऐसा प्रकाशित कर देगा। इसलिए कैसे जाऊँ (देखकर) अच्छा आधे गिरे हुए इस प्राकार-खण्ड को लाँघकर जाता हूँ।

यहाँ मैं आकाश में लङ्कानगरी में, भूमि पर, पाताल में तथा हनुमत् पर्वत पर महेन्द्र की तरह जल्दी-जल्दी जाता हूं।

१६. कापटिक-प्रलापः[1]

शकारः—(सहर्षम्)

मंशेण तिक्खावि(वि)लकेण भत्ते शाकेण शूपेण शमच्छकेण ।
भुत्तं मए अत्तणअश्श गेहे शालिश्शकूलेण गुलोदणेण ॥

(कर्णं दत्त्वा) भिण्णकंशखंखणाए चण्डालवाआए शलशंजोए जधा अ एशे उक्खालिदे वज्झडिण्डिमशद्दे पडहाण अ शुणीअदि तधा तक्केमि दलिद्दचालुदत्ताके वज्झट्ठाणं णीअदि त्ति । ता पेक्खिश्शं । शत्तुविणाशे णाम महन्ते हलअश्श पलिदोशे होदि । शुदं च मए जे वि(वि) किल शत्तुं वाबा(वा)दअन्तं पेक्खदि तश्श अण्णश्शि जम्मन्तले अक्खिलोगे ण होदि । मए क्खु विशगण्ठिगब्भपविश्टे(स्टे)ण विअ कीडएण किं पि अन्तलं मग्गमाणेण उप्पाडिदे ताह दलिद्दचालुदत्ताह विणाशे । शम्पदं अत्तणकेलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए

(संस्कृतच्छाया)-

शकारः—(सहर्षम)

मांसेन तिक्ताम्लेन भक्तं शाकेन सूपेन समत्स्यकेन ।
भुक्तं मया आत्मनो गृहे सावृश्यकूरेण गुडोदनेन ॥

(कर्णं दत्त्वा) भिन्नकांस्यखंखणायाः चाण्डालवाचायाः स्वरसंयोगो यथा चैष उद्गीतो वध्यडिण्डिमशब्दः पटहानां च श्रूयते तथा तर्कयामि दरिद्रचारुदत्तको वध्यस्थानं नीयत इति । तत् प्रेक्षिष्ये । शत्रुविनाशे नाम महान् हृदयस्य परितोषो भवति । श्रुतं च मया योऽपि किल शत्रुं व्यापाद्यमानं पश्यति तस्यान्यस्मिञ्जन्मान्तरेऽक्षिरोगो न भवति । मया खलु विषग्रन्थिगर्भप्रविष्टेनेव कीटकेन किमप्यन्तरं मृग्यमाणेनोत्पादितस्तस्य दरिद्रचारुदत्तस्य विनाशः । साम्प्रतमात्मीयायां प्रासादबालाग्र-

(हिन्दी-अनुवाद)

शकारः—(हर्ष के साथ)

मेरे द्वारा अपने घर में तीते-खट्टे मांस, शाक, मछली सहित दाल, शालि-चावल का भात तथा गुड़ की खीर के साथ चावल खाया गया ।

(ध्यान देकर) जिस प्रकार टूटे कांसे (के वर्तन) की खनखनाहट एवं चाण्डाल की वाणी की मिश्रित आवाज तथा वध्य ढोल एवं नगाड़ों का शब्द सुनाई दे रहा है, उससे अन्दाज करता हूँ कि दरिद्र चारुदत्त वध्य स्थान को ले जाया जा रहा है । तो देखूंगा । शत्रु के विनाश से हृदय में भारी सन्तोष होता है तथा मेरे द्वारा सुना गया है कि जो भी मारे जाते हुए शत्रु को देखता है उसको दूसरे जन्म में अक्षि-रोग नहीं होता है । विष की गाँठ के अन्दर प्रविष्ट कीड़े की तरह कोई छेद खोजते हुए मेरे द्वारा उस दरिद्र चारुदत्त का विनाश उपस्थित कर दिया गया । इस समय प्रासाद के आगे नवनिर्मित

---

१. मृच्छकटिक के दशम अंक (पृ० १६३-१६४) से उद्धृत ।

अहिलुहिअ अत्तणो पलक्कमं पेक्खामि ।

(तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) ही, ही, एदाह दलिद्दचालुदत्ताह वज्झं णीअमाणाह एवड्ढे जणशम्मद्दे जं वेलं अम्हालिशे पवले वलमणुश्शे वज्झं णीअदि तं वेलं कीदिशं भवे। (निरीक्ष्य) कधं एशे शे णववलद्दके विअ मण्डिदे दक्खिणं दिशं णीअदि। अध किण्णिमित्तं मम केलिकाए पाशादबालग्गपदोलिकाए शमीबे(वे) घोशणा णिव(व)डिदा णिवालिदा अ। (विलोक्य) कधं थावलकचेडे बि(वि) णत्थि इध। मा णाम तेण इदो गदुअ मन्तभेदे कडे भवीअदि। ता जाव णं अण्णेशामि।

(इति अवतीर्योपसर्पति)

(संस्कृतच्छाया)

प्रतोलिकायामधिरुह्यात्मनः पराक्रमं पश्यामि। (तथा कृत्वा दृष्ट्वा च) ही ही, एतस्य दरिद्रचारुदत्तस्य वध्यं नीयमानस्य एतावान् जनसम्मर्दो, यस्यां वेलायाम-स्मादृशः प्रवरो वरमनुष्यो वध्यं नीयते तस्यां वेलायां कीदृशं (कीदृशो) भवेत्। (निरीक्ष्य) कथमेष स नवबलीवर्द इव मण्डितो दक्षिणां दिशं नीयते। अथ केन निमित्तेन मदीयायाः प्रासादबालाग्रप्रतोलिकायाः समीपे घोषणा निपतिता निवारिता च। (विलोक्य) कथं स्थावरकचेटोऽपि नास्तीह। मा नाम तेनेतो गत्वा मन्त्रभेदः कृतो भूयते (भविष्यति)। तद्यावदेनमन्वेषयामि।

(इत्यवतीर्योपसर्पति)

(हिन्दी-अनुवाद)

बरामदे पर चढ़कर अपना पराक्रम देखता हूं।

(वैसा करके तथा देखकर) हा हा, इस दरिद्र चारुदत्त को वध्य स्थान पर ले जाते समय मनुष्यों की इतनी अधिक भीड़? जिस समय मेरे जैसा प्रधान श्रेष्ठ मनुष्य वध्य-स्थान को ले जाया जायगा उस समय कितनी भीड़ होगी। (देखकर) क्या यह वह सांड की तरह सजा हुआ (चारुदत्त) दक्षिण दिशा की ओर ले जाया जा रहा है? किस कारण मेरे प्रासाद के नवनिर्मित बरामदे के समीप घोषणा हुई और रोक दी गई। (देखकर) क्या यहाँ स्थावरक चेट भी नहीं है? कहीं उसके द्वारा यहाँ से जाकर रहस्योद्घाटन न किया गया हो। तो जब तक मैं उसको खोजता हूं।

१७. शोणित-पिपासा[1]

राक्षसी—(विकृतं विहस्य, सपरितोषम्)

हदमाणुशमंशभोअणे कुम्भशहश्शवशाहि शंचिदे।
अणिशं अ पिबा(वा)मि शोणिअं वलिशशदं शमले हुविश्शदि ।।

(नृत्यन्ती सपरितोषम्) जइ शिन्धुलाअवहदिअहे विअ शमलकम्म पडिब(व)ज्जइ अज्जुणो(णे) तदो अ पज्जन्तभलिदगोट्ठागाले मंशशोणिएहि मे गेहे हुवीअदि। (परिक्रम्य दिशोऽवलोक्य) अह कहिं णु लुहिलप्पिए हुवीअदि। ता जाव इमश्शिं शमले पिअभत्तालं लुहिलप्पिअं अण्णेशामि। (परिक्रम्य) होदु शद्दाव(व)इश्शं दाव। लुहिलप्पिआ लुहिलप्पिआ इदो एहि इदो एहि।

(ततः प्रविशति तथाविधो राक्षसः)

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसी—(विकृतं विहस्य सपरितोषम्)

हतमानुषमांसभोजनं कुम्भसहस्रवसाभिः संचितम्।
अनिशं च पिबामि शोणितं वर्षशतं समरो भविष्यति ।।

(नृत्यन्ती सपरितोषम्) यदि सिन्धुराजवधदिवस इव समरकर्म प्रतिपद्यतेऽर्जुनस्ततश्च पर्यन्तभरितकोष्ठागारं मांसशोणितैर्मे गृहं भूयते (भवति)। (परिक्रम्य दिशोऽवलोक्य) अथ क्व नु रुधिरप्रियो भूयते (भवति) ? तद्यावदस्मिन्समरे प्रियभर्तारं रुधिरप्रियमन्वेषयामि। (परिक्रम्य) भवतु शब्दापयिष्यामि तावत्। रुधिरप्रिय ! रुधिरप्रिय ! इत एहीत एहि।

(ततः प्रविशति तथाविधो राक्षसः)

(हिन्दी-अनुवाद)

राक्षसी—(बुरी तरह हंसकर सन्तोष के साथ)

चर्बी के हजार घड़ों के साथ मरे हुए मनुष्यों के माँस को भोजन इकट्ठा हैं। और निरन्तर खून को पीता हूं। (यह) युद्ध सौ साल तक होगा।

(नाचती हुई सन्तोष के साथ) यदि सिन्धुराज के वध के दिन की तरह अर्जुन युद्ध-कर्म स्वीकार करे तो मेरे घर की सारी कोठरी मांस और खून से भर जाय। (घूमकर चारों ओर देखकर) और रुधिरप्रिय कहाँ होगा। तब तक इस युद्ध में (अपने) प्यारे पति रुधिरप्रिय को खोजती हूं। (घूमकर) अच्छा तो पुकारूंगी। रुधिरप्रिय ! रुधिरप्रिय ! यहाँ आओ यहाँ आओ।

(इसके बाद उसी प्रकार (भयानक) राक्षस प्रवेश करता है)

---

१. वेणीसंहार (८वीं शताब्दी) के तीसरे अंक (पृ० ३३-३४) से उद्धृत।

राक्षसः—(श्रमं नाटयन्)

पच्चग्गहदाणं मंशए जइ उण्हे लुहिले अ लम्भइ।
ता एशे मह पलिश्शमे खणमेत्तं एव्व लहु णश्शइ॥

(राक्षसी पुनर्व्याहरति)

राक्षसः—(आकर्ण्य) अले के एशे मं शद्दाबे(वे)दि। (विलोक्य) अले कहं वशागन्धा। (उपसृत्य) वशागन्धे मं कीश शद्दावे(वे)शि।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ एदं क्खु तुह कालणादो पच्चग्गहदश्श कश्श वि(वि) लाएशिणो शलीलावअवप्पहूदं पहूदवशाशिणेहचिक्कणं कोण्हं लुहिलं अग्गमंशं च आणीदं ता पिबा(वा)हि णं।

राक्षसः—(सपरितोषम्) शाहु वशागन्धे! शाहु, शोहणं किदं तुए वलिअम्हि पिबा(वा)शिदे एदं कोशिणं लुहिलं आणीदं।

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसः—(श्रमं नाटयन्)

प्रत्यग्रहतानां मांसकं यद्युष्णं रुधिरं च लभ्यते।
तदेष मम परिश्रमः क्षणमात्रमेव लघु नश्यति॥

(राक्षसी पुनर्व्याहरति)

राक्षसः—(आकर्ण्य) अरे क एष मां शब्दापयति? (विलोक्य) अरे कथं वसागन्धा! (उपसृत्य) वसागन्धे! मां किं शब्दापयसि?

राक्षसी—रुधिरप्रिय! एतत् खलु तव कारणात्प्रत्यग्रहतस्य कस्यापि राजर्षेः शरीरावयवप्रभूतं प्रभूतवसास्नेहचिक्कणं कोष्णं रुधिरमग्रमांसं चानीतं तत्पिबैतत्।

राक्षसः—(सपरितोषम्) साधु, वसागन्धे! साधु, शोभनं कृतं त्वया बलीयोऽस्मि पिपासित एतत्कोष्णं रुधिरमानीतम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

राक्षस—(थकान का अभिनय करता हुआ) यदि तत्काल मरे हुए (मनुष्यों) का मांस तथा गरम खून मिले तो यह मेरा परिश्रम क्षणभर में ही जल्दी से दूर हो जायगा।

(राक्षसी फिर बुलाती है)

राक्षस—(सुनकर) अरे यह कौन मुझे बुला रहा है। (देखकर) अरे (यहाँ) वसागन्धा कैसे? (पास पहुँचकर) वसागन्धे! मुझे क्यों बुला रही हो?

राक्षसी—रुधिरप्रिय! तुम्हारे लिए तत्काल मरे हुए किसी राजर्षि के शरीरावयवों से निकला तथा चर्बी के निकले तेल से चिकना यह गरमागरम खून एवं उत्तम मांस लाया गया है। इसलिए इसे पिओ।

राक्षस—(सन्तोष के साथ) धन्य है वसागन्धे! धन्य है! अत्यधिक प्यासे मेरे लिए यह गरमागरम खून लाकर तुम्हारे द्वारा सुन्दर (कार्य) किया गया।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ ईदिशे हदणलगअतुलंगमशोणिअवशाशमुद्ददुश्शंचले शमलाङ्गणे पडिब्भमन्ते तुमं पिबा(वा)शिअशि त्ति अच्चलिअं अच्चलिअं।

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसी—रुधिरप्रिय! ईदृशे हतनरगजतुरंगमशोणितवसासमुद्रदुःसंचरे समराङ्गणे परिभ्रमन् त्वं पिपासितोऽसीत्याश्चर्यमाश्चर्यम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

राक्षसी—रुधिरप्रिय! इस मरे हुए मनुष्यों, हथियों और घोड़ों के खून एवं चर्बी के समुद्र रूपी दुर्गम समराङ्गण में घूमते हुए तुम प्यासे हो—यह आश्चर्य है आश्चर्य है।

१८. योग्यं योग्येन[1]

राक्षसः—(सक्रोधम्) अले वशागन्धे। पुत्तघडुक्कअशोअशंतत्तहिअअं शामिणिं हिडिम्बादेइं पेक्खिदुं गदम्हि।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ। अज्ज बि(वि) शामिणीए हिडिम्बादेईए घडुक्कअशोए ण उव(व)शम्मदि ?

राक्षसः—अइ कुदो शे उब(व)शमे किंतु अहिमण्णुवहशोअशमाणदुक्खाए शुभद्दादेवीए जण्णशेणीए अ शमाशाशीअदि।

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसः—(सक्रोधम्) अरे वसागन्धे! पुत्रघटोत्कचशोकसंतप्तहृदयां स्वामिनीं हिडिम्बादेवीं प्रेक्षितुं गतोऽस्मि।

राक्षसी—रुधिरप्रिय! अद्यापि स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या घटोत्कचशोको नोपशाम्यति ?

राक्षसः—अयि! कुतोऽस्या उपशमः, किन्त्वभिमन्युवधशोकसमानदुःखया सुभद्रादेव्या याज्ञसेन्या च समाश्वास्यते।

(हिन्दी-अनुवाद)

राक्षस—(क्रोध के साथ) अरे वसागन्धे! पुत्र घटोत्कच के शोक से संतप्त हृदयवाली स्वामिनी हिडिम्बादेवी को देखने के लिए गया था।

राक्षसी—रुधिरप्रिय! अभी तक स्वामिनी हिडिम्बादेवी का घटोत्कच सम्बन्धी शोक शान्त नहीं हुआ ?

राक्षस—अरे! उसकी शान्ति कहाँ (से हुई) किन्तु अभिमन्यु के शोक से समान दुःखवाली सुभद्रादेवी तथा द्रौपदी के द्वारा सान्त्वना दी जा रही है।

---

१. वेणीसंहार के तृतीय अंक (पृष्ठ ३४-३५) से उद्धृत।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ गेण्ह तुमं एदं हत्थिसिलकवा(वा)लशंचिअं अग्गमंशोव-(व)दंशं अ पिब(व)हि णवशोणिआशवं।

राक्षसः—(तथा कृत्वा) वशागन्धे अह किअप्पहूदं तुए शंचिअं लुहिलं अग्गमंशं च ?

राक्षसी—अले लुहिलप्पिआ। पुव्वशंचिअं तुमं जेव्व जाणाशि, णवशंचिअं शिणु। भअदत्तशोणिअकुम्भे शिन्धुलाअवशाकुम्भे दुवे मच्छाहिव (व) भूलश्शवशोमदत्तबल्हीअप्पमुहाणं णलिन्दाणं पाकिदपुलिशाणं च लुहिलवशामंशश्श घडा अवि(वि)णद्धमुहा शहश्शशंक्खा शन्ति मे गेहे।

राक्षसः—(सपरितोषमालिङ्ग्य) शाहु शाहु शुग्घलिणीए शाहु शाहु। इमिणा दे शुग्घलिणित्तणेण शामिणीए हिडिम्बादेईए शंविहाएण अ पणट्ठं मे दालिद्दं।

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! गृहाण त्वमेतद्धस्तिशिरःकपालसंचितमग्रमांसोपदंशं च पिव नवशोणितासवम्।

राक्षसः—(तथा कृत्वा) वसागन्धे। अथ कियत्प्रभूतं त्वया संचितं रुधिरमग्रमांसं च ?

राक्षसी—अरे रुधिरप्रिय ! पूर्वसंचितं त्वमेव जानासि, नवसंचितं शृणु। भगदत्त-शोणितकुम्भः सिन्धुराजवसाकुम्भौ द्वौ मत्स्याधिपभूरिश्रवसोमदत्तबाल्हीक-प्रमुखाणां नरेन्द्राणां प्राकृतपुरुषाणां च रुधिरवसामांसस्य घटा अपिनद्धमुखा सहस्रसंख्याः सन्ति मे गृहे।

राक्षसः—(सपरितोषमालिङ्ग्य) साधु साधु सुगृहिण्याः साधु साधु। अनेन ते सुगृहिणी-त्वेन स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या संविभागेन च प्रनष्टं मे दारिद्र्यम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! तुम हाथी के शिर के कपाल से संचित उत्तम मांस की इस चटनी को लो और नये खून की मदिरा को पिओ।

राक्षस—(वैसा करके) वसागन्धे ! तुम्हारे द्वारा कितना अधिक रुधिर एवं उत्तम मांस इकट्ठा किया गया है ?

राक्षसी—अरे रुधिरप्रिय ! पूर्व-सञ्चित को तुम्हीं जानते हो, नव-सञ्चित को सुनो। भगदत्त के खून का (एक) घड़ा, सिन्धुराज की चर्वी के दो घड़े, मत्स्याधिप, भूरिश्रव, सोमदत्त, वल्हीक-प्रमुख राजाओं तथा सामान्य पुरुषों के रुधिर, चर्बी तथा मांस के बिना ढके हुए घड़े हजारों की संख्या में मेरे घर में हैं।

राक्षस—(सन्तोष के साथ आलिङ्गन कर) धन्य है, धन्य है, अच्छी गृहिणी के लिए धन्य है, धन्य है। तुम्हारे इस सुगृहिणीपन से तथा स्वामिनी हिडिम्बादेवी के उचित बँटवारे से मेरी दरिद्रता नष्ट हो गई है।

राक्षसी—लुहिलप्पिआ केलिशे शामिणीए शंविहाए किदे ?

राक्षस—अज्ज अहं शामिणीए हिडिम्बादेईए शबहुमाणं शद्दाबि(वि)अ आणत्ते जह लुहिलप्पिआ अज्ज पहुदि अज्जउत्तभीमशेणश्श पिट्ठदोणुपिट्ठं शमले अहिण्डिदव्वं त्ति(ति)। ता तश्श अणुमग्गगामिणो हदमाणुशशोणिअणईदंशणप्पणट्ठबुभुक्खापिबा(वा)शश्श इह एव्व शंगमो तुमुलओ मे हुवीअदि। तुमं वि (वि) विश्शद्धा भविअ लुहिलवशाहिं कुम्भशहश्शं शंचेहि।

(संस्कृतच्छाया)

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! कीदृशः स्वामिन्या संविभागः कृतः ?

राक्षसः—अद्याहं स्वामिन्या हिडिम्बादेव्या सबहुमानं शब्दापयित्वाज्ञप्तो यथा रुधिरप्रिय ! अद्य प्रभृत्यार्यपुत्रभीमसेनस्य पृष्ठतोऽनुपृष्ठं समर आहिण्डितव्यमिति। तत्तस्यानुमार्गगामिनो हतमानुषशोणितनदीदर्शनप्रनष्टबुभुक्षापिपासयेहैव संगमस्तुमुलको मे भूयते (भवति)। त्वमपि विश्रब्धा भूत्वा रुधिरवसाभिः कुम्भसहस्रं संचय।

(हिन्दी अनुवाद)

राक्षसी—रुधिरप्रिय ! स्वामिनी हिडिम्बादेवी के द्वारा कैसा उचित बँटवारा किया गया ?

राक्षस—आज मैं स्वामिनी हिडिम्बादेवी के द्वारा आदर-पूर्वक बुलाया जाकर कहा गया कि 'रुधिरप्रिय ! आज से लेकर (तुम्हें) आर्यपुत्र भीमसेन के पीछे-पीछे युद्ध में घूमना चाहिये।' उससे उसके अनुमार्गगामी तथा मरे हुए मनुष्यों के खून की नदी देखने से शान्त भूख एवं प्यासवाले (मेरा) यहीं पर उत्कट मिलन होगा। तुम भी शान्त होकर खून और चर्बी के हजारों घड़े इकट्ठे करो।

अर्धमागधी-प्राकृत

प्रमुख विशेषताएँ[1]

१. व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) लुप्त व्यञ्जन>य-श्रुति[2], श्रेणिकम्=सेणियं, च = य, काम-ध्वजा= कामज्झया, एतत्=एय ।

(२) क>ग, एकदा=एगया, नरकाय=नरगाए, श्रावकः=सावगे ।

(३) न>ण, न[3], जनाः = जणा, निजकः = नियगे ।

(४) प>व, उपमा = उवगा, तपति=तवइ ।

---

१. द्रष्टव्य—(क) पाइअ-सद्द-महण्णवो की भूमिका पृ० ३९ से ४३ तक ।
(ख) A Study of Ardha-magadhi Grammar.
(ग) A Manual of Ardha-magadhi Grammar.

२. (क) देखिए पृ० २, उद्ध० २.
(ख) अर्धमागधी में लुप्त-व्यञ्जन के स्थान पर अन्य-अन्य व्यञ्जन होते हैं तथा कहीं-कहीं तो वही व्यञ्जन कायम रहता है। हाँ, कहीं-कहीं लुप्त व्यञ्जनों के स्थान पर अन्य व्यञ्जन होने या वही व्यञ्जन रहने के बदले महाराष्ट्री की तरह लोप भी देखा जाता है, किन्तु यह लोप वहाँ पर ही देखा जाता है जहाँ लुप्त व्यञ्जनों के बाद अ या आ से भिन्न कोई स्वर होता है ।

देखिए पाइअ० पृ० ४१

(ग) ... ...the Jain writer's practice of inserting त instead of य (i. e. तश्रुति) is unauthorised ungrammatical, highly objectionable and not befitting to be encouraged. In this connection he is justified in stating that it came into vogue after thirteenth century A. D. and it is the peculiarity of Jain manuscript writers and not of the language—A Study of Ardha-magadhi Grammar, p. 33.

३. शब्द के प्रारम्भिक न को प्रायः अपरिवर्तित रखा गया है किन्तु मध्यवर्ती न नियमतः ण में बदल दिया गया है। संयुक्त-व्यञ्जन में यदि एक व्यञ्जन ण हो तो वह ण्ण में बदल जाता है, अन्य स्थलों पर न्न हो जाता है। जैसे :— कर्णः=कण्णो, जीर्णम्=जुण्णं, अन्यः=अन्नो, दत्तम्=दिन्नं ।

देखिए A Manual of Ardha-magadhi Grammar.

२. शब्द-रूप

(१) अ+सि (सु)>ए (कहीं-कहीं ओ), श्रेणिकः=सेणिए, सः = से, विरतः = विरए, अन्यो जीवः=अन्नो जीवो ।

(२) ङे<आए, दुःखाय = दुक्खाए, मोहाय = मोहाए ।

(३) ङि>म्सि, धरणीतले=धरणीयलंसि, मेघे = मेहंसि ।

(४) कुछ विशिष्ट शब्द-रूप—मण+टा=मणसा, वय+टा=वयसा, धम्म+टा = धम्मुणा, कम्म+टा=कम्मुणा, तद्+भ्यस् = तेब्भो, युष्मद्+ङस्=तव, अस्मद्+ आम्=अस्माकं ।

३. धातु-रूप

(१) बहुवचन (भूतकाल)>इंसु, अंसु; अगमन् = गच्छिसु, अप्राक्षुः= पुच्छिसु, आहुः=आहंसु ।

(२) प्रथमपुरुष एकवचन (भूतकाल) के विशिष्ट रूप—होत्था, विहरित्था, सेवित्था आदि ।

(३) संस्कृत-रूपों से परिवर्तित विशिष्ट रूप—अब्बवी, बूया, आहु, अकासी आदि ।

४. आगम तथा आदेश

(१) म् का आगम, एकैकम् = एगमेगं, निरयगामी=निरयंगामी ।

(२) अम् (+एव)>आम्, तमेव=तामेव, एवमेव=एवामेव ।

(३) (दीर्घस्वर+) इति वा>ति वा, इ वा; इन्द्रमहे इति वा=इंदमहे ति वा, इंदमहे इ वा ।

(४) यथा<अहा, जहा; यथाजातम्=अहाजातं, यथानामकः= जहाणामए ।

(५) यावत्>आव, जाव; यावत्कथा=आवकहा, यावज्जीवम्= जावज्जीवं ।

(६) तर>तराय, अल्पतरः=अप्पतराए, बहुतरः=बहुतराए ।

५. कृदन्त

(१) क्त्वा<ट्टु, च्चा, इत्ता, इत्ताणं, उआणं, आय, आए; कृत्वा= कट्टु, किच्चा, करित्ता, करित्ताणं, काउआणं, गृहीत्वा=गहाय, आदाय=आयाए, संप्रेक्ष्य=संपेहाए ।

(२) तुम्>त्तए, कर्तुम्=करित्तए, द्रष्टुम्=पासित्तए ।

(शेष नियम सामान्य-प्राकृत की तरह)

१९. भोगानामसारता[1]

तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते एव णं एगया नियया पुव्वि परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्जा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं, भोगा मेव अणुसोयन्ति इहमेगेसिं माणवाणं ।

तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गड्ढिए चिट्ठइ भोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से हरइ, रायाणो वा से विलुंपंति,

(संस्कृतच्छाया)

ततस्तस्यैकदा रोगसमुत्पादा समुत्पद्यन्ते । यैर्वा सार्धं संवसति त एव नन्वेकदा निजका पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत् । नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा, ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं शातं, भोगानेवानुशोचन्ति इहैकेषां मानवानाम् ।

त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्र मात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा, स तत्र गृद्धस्तिष्ठति भोजनाय । ततस्तस्यैकदा विपरिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति । तदपि तस्यैकदा दायादाः विभजन्ति, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा तस्य

(हिन्दी-अनुवाद)

उस (अर्थात् कामासक्त रहने) से उस (पुरुष) को रोग उत्पन्न हो जाते हैं । जिनके साथ (वह) रहता है, वे (पुत्रादि-स्वजन) ही एक समय (अर्थात् रोग उत्पन्न होने पर) पहले निन्दा करते हैं (अर्थात् निन्दा की शुरुआत करते हैं), वह (भी) उन (स्वजनों) की बाद में निन्दा करता है । (वस्तुतः) वे तुम्हारे त्राण (आपत्ति से रक्षा) के लिए या शरण (निर्भय-स्थिति) के लिए (समर्थ) नहीं हैं, तुम भी उनके त्राण या शरण के लिए (समर्थ) नहीं हो । प्रत्येक (प्राणी) को (अपने-अपने) दुःख एवं सुख को (भोगना पड़ता है यह) जानकर (रोग में घबड़ाना नहीं चाहिये) ।

इस (संसार) में कुछ लोगों के लिए (सुख और दुःख अपने-अपने कर्मानुसार होता है—इसका ज्ञान नहीं होता है और वे) भोगों को ही सोचते हैं ।

तीन प्रकार (के करण या योग) से वहाँ जो भी उस (धन) की थोड़ी या अधिक मात्रा होती है, वह उस (मात्रा) में भोग के लिए अत्यासक्त (लालची) रहता है । तदनन्तर उसके (धन का) बचा हुआ विविध भाग जुड़कर किसी समय काफी मात्रा में हो जाता है । उसके उस (धन) को भी किसी समय दायाद (अर्थात् सम्पत्ति के भागीदार) बाँट लेते हैं अथवा उसके (उस धन को कभी) चोर चुरा लेता है, अथवा

---

१. आचाराङ्गसूत्रदीपिका (१.२.४) से उद्धृत ।

णस्सइ वा से, विणस्सइ वा से, अगारडाहेण वा से डज्झइ, इय से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्माणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ।

आसं च छन्दं च विगिंच धीरे ! तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु, जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जणा मोह-पाउडा, थीभि लोए पव्वहिए, ते भो ! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, उयाहु वीरे अप्पमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संति-मरणं संपेहाए, भेउर-धम्मं संपेहाए, नालं पास, अलं तव एएहिं।

(संस्कृतच्छाया)

विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य, विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते इति स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति।

आशाञ्च छन्दञ्च विविच्य (वेविक्ष्व) धीर ! त्वमेव तच्छल्यमाहृत्य येन स्यात् तेन नो स्यात्, इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः मोह-प्रावृताः। स्त्रीभिर्लोकः प्रव्यथितः। ते भो वदन्ति एतानि आयतनानि। एतद् दुःखाय मोहाय माराय नरकाय नरक-तिरश्चे। सततं मूढो धर्मं नाभिजानाति। उताह वीरः—अप्रमादो महामोहे अलं कुशलस्य प्रमादेन, शान्ति-मरणं संप्रेक्ष्य भिदुरधर्मं संप्रेक्ष्य नालं पश्य, अलं तव एभिः।

(हिन्दी-अनुवाद)

उसके (उस धन को कभी) राजा-लोग छीन लेते हैं, अथवा उसका (वह धन कभी) नष्ट हो जाता है, अथवा उसका (वह धन कभी) पुराना हो जाने के कारण विनष्ट हो जाता है, अथवा उसका (वह धन कभी) घर की आग से जल जाता है। इस प्रकार दूसरे के लिए क्रूर कर्मों को करता हुआ वह अज्ञानी उस (क्रूर-कर्म से उत्पन्न) दुःख के कारण विपरीत भाव (अर्थात् कर्त्तव्य एवं अकर्त्तव्य की विवेकहीनता) को प्राप्त होता है।

हे धीर ! (भोगों की) आशा एवं इच्छा को त्यागो। तुम ही (भोगादि की) उस शल्य को स्वीकार कर (दुखः पा रहे हो)। जिससे (भोगों की प्राप्ति) होती है उससे (भोगों की प्राप्ति) नहीं (भी) होती है। जो लोग मोह से आवृत (ढके हुए) है (वे) इसी को नहीं समझते हैं। स्त्रियों से (यह) लोक पीड़ित है। अरे वे कहते हैं (कि) ये (स्त्री आदि उपभोग के) साधन हैं। (उनका यह कथन) दुःख के लिए मोह के लिए, मृत्यु के लिए, नरक के लिए, (तथा वहाँ से निकल कर) तिर्यक् योनि के लिए (होता है)। निरन्तर (दुःख से पीड़ित) मूर्ख व्यक्ति धर्म को नहीं जानता है। वीर ने कहा हैं (कि) महामोह (स्त्रियों) में अप्रमादी (सावधान रहो) तथा शान्ति (अर्थात् मोक्ष) और मरण (अर्थात् संसार) को विचारकर तथा (शरीर के) नश्वर धर्म को विचारकर कुशल (व्यक्ति) के लिए प्रमाद नहीं करना चाहिए। (तुम इच्छा-पूर्ति करने में) समर्थ नहीं हो इसे समझो। अतः तुम्हारा इनके साथ (प्रयोजन रखना) अच्छा नहीं है।

●

२०. धर्म-पाखण्डं त्यजेत्[1]

संबुज्झहा जन्तवो माणुसत्तं दट्ठुं भयं बालिसेणं अलम्भो।
एगन्तदुक्खे जरिए व लोए सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१॥
इहेग मूढा पवयन्ति मोक्खं आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं हुएण एगे पवयन्ति मोक्खं ॥२॥
पाओसिणाणाइसु नत्थि मोक्खो खारस्स लोणस्स अणासणेणं।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा अन्नत्थ वासं परिकप्पयन्ति ॥३॥
उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
उदगस्स फासेस सिया य सिद्धी सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

संबुध्यध्वं जन्तवो मनुष्यत्वं, दृष्ट्वा भयं बालिशेनालाभः।
एकान्तदुःखो ज्वरित इव लोकः स्वकर्मणा विपर्य्यासमुपैति ॥१॥
इहैके मूढाः प्रवदन्ति मोक्षमाहारसम्पज्जनवर्जनेन।
एके च शीतोदकसेवनेन हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥२॥
प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः क्षारस्य लवणस्यानशनेन।
ते मद्यमांसं लशुनञ्च भुक्त्वाऽन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥३॥
उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति सायञ्च प्रातरुदकं स्पृशन्तः।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः सिध्येयुः प्राणाः बहव उदके ॥४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

हे जीवो ! मनुष्यत्व (की दुर्लभता) को तथा (नरक एवं तिर्यञ्च गति में उत्पन्न) दुखः को देखकर तथा मूर्खों को (बोध का) अलाभ (जानकर) बोध को प्राप्त करो। यह लोक ज्वर से पीड़ित की तरह एकान्त दुःख रूप (है तथा वह) अपने कर्म से वैपरीत्य (सुख चाहता हुआ भी दु.ख) को प्राप्त करता है ॥१॥

इस (लोक) में कुछ मूर्ख नमक के त्याग से मोक्ष (की प्राप्ति) बतलाते हैं। कुछ शीतल जल के सेवन से तो कुछ होम करने से मोक्ष (की प्राप्ति) को बतलाते हैं ॥२॥

प्रातःकाल स्नान आदि में मोक्ष नहीं है (अर्थात् स्नान आदि से मोक्ष नहीं मिलता) (तथा) क्षरणशील-नमक के न खाने से (भी मोक्ष नहीं मिलता)। वे (अन्यतीर्थी) मद्य, मांस तथा लहसुन खाकर (मोक्ष से) अन्यत्र अर्थात् संसार में निवास करते हैं॥३॥

सायंकाल तथा प्रातःकाल जल-स्पर्श करते हुए जो लोग जल से मुक्ति बतलाते हैं (ये मिथ्यावादी हैं)। कारण, यदि जल के स्पर्श से सिद्धि हो तो जल में (रहनेवाले) बहुत से प्राणी सिद्ध हो जायें (अर्थात् जल में रहने वाले सभी प्राणियों को मुक्ति मिल जाना चाहिये) ॥४॥

---

१. सूयगडं (१।७।११-२२ तक) से उद्धृत।

मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य मग्गू य उट्टा दगरक्खसाय ।
अट्ठाणमेयं कुसला वयन्ति उदगेण जे सिद्धिमुदाहरन्ति ॥५॥
उदगं जई कम्ममलं हरेज्जा एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अन्धं व नेयारमणुस्सरित्ता पाणाणि चेवं विणिहन्ति मन्दा ॥६॥
पावाइँ कम्माइँ पकुव्वओ हि सिओदगं ऊ जइ तं हरेज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाई मुसं वयन्ते जलसिद्धिमाहु ॥७॥
हुएण जे सिद्धिमुदाहरन्ति सायं च पायं अगणिं फुसन्ता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा अगणिं फुसन्ताण कुकम्मिणं पि ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च मद्गवश्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च ।
अस्थानमेतत्कुशला वदन्त्युदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति ॥५॥
उदकं यदि कर्ममलं हरेदेवं शुभमिच्छामात्रमेव ।
अन्धञ्च नेतारमनुसृत्य प्राणिनश्चैवं विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥६॥
पापानि कर्माणि प्रकुर्वतो हि शीतोदकन्तु यदि तद्धरेत् ।
सिद्ध्येयुरेके दकसत्त्वघातिनो मृषा वदन्तो जलसिद्धिमाहु ॥७॥
हुतेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति सायञ्च प्रातरग्नि स्पृशन्तः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्नि स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(यदि जल से मुक्ति मानें तो) मत्स्य, कच्छप, सरीसृप मद्गु (जल-जन्तु विशेष) ऊंट (जल-जन्तु विशेष) और जल-राक्षस (सबसे पहिले मुक्ति प्राप्त करें)। (अतः) जो जल से सिद्धि बतलाते हैं (उनका) यह (कथन) अशुद्ध है (ऐसा) कुशल व्यक्ति कहते हैं ॥५॥

उदक यदि कर्म-मल (पाप) का हरण करे (तो) उसी प्रकार सुख (पुण्य) का (भी हरण कर लेगा)। (अतः जल-स्पर्श से मुक्ति मानना) इच्छा मात्र ही है। मूर्ख लोग अन्धे (—अज्ञानी) नेता का अनुसरण कर इस प्रकार (जल-स्नान आदि क्रिया) से प्राणियों को मारते हैं ॥६॥

पाप कर्मों को करनेवाले के उस (पाप कर्म) को यदि शीतल जल हर ले तो जल के प्राणियों को मारनेवाले कुछ (कछुवे आदि) जीव (भी) सिद्धि को प्राप्त करें। (अतः) जल से सिद्धि को बतानेवाले झूठ बोलते हैं ॥७॥

सायंकाल एवं प्रातःकाल अग्नि का स्पर्श करनेवाले जो लोग होम करने से मुक्ति बतलाते हैं, (वे भी झूठ बोलते हैं)। यदि इस प्रकार उस (अग्नि के स्पर्श) से सिद्धि हो तो अग्नि का स्पर्श करनेवाले कुकर्मियों को भी (मुक्ति मिल जाय) ॥८॥

अपरिक्ख दिट्ठं न हु एव सिद्धी एहिन्ति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहि जाणं पडिलेह सायं विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥९॥
थणन्ति लुप्पन्ति तसन्ति कम्मी पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरओ आयगुत्ते दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥१०॥
जे धम्मलद्धं विणिहाय भुञ्जे वियडेण साहट्ठु य जे सिणाइं ।
जे धोवई लूसयई व वत्थं अहाहु ते नागणियस्स दूरे ॥११॥
कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुञ्जमाणे विरए सिणाणाइसु इत्थियासु ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

अपरीक्ष्य दृष्टं नैवैवं सिद्धिरेष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः ।
भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य शातं विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरैः ॥९॥
स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिणः पृथक् जन्तवः परिसंख्याय भिक्षुः ।
तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो दृष्ट्वा त्रसांश्च प्रतिसंहरेत् ॥१०॥
यो धर्मलब्धं विनिधाय भुङ्क्ते विकटेन संहृत्य च यः स्नाति ।
यो धावति भूषयति च वस्त्रम् अथाहुः स नाग्न्यस्य दूरे ॥११॥
कर्म परिज्ञायोदके धीरो विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम् ।
स बीजकन्दान् अभुञ्जानो विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(जिनके द्वारा) बिना परीक्षा किए ही जलावगाहन एवं अग्निहोत्र आदि से मुक्ति-प्राप्ति (के सिद्धान्त) को स्वीकार किया गया हैं, वे (वस्तु-तत्त्व को) नहीं जाननेवाले संसार को ही प्राप्त करेंगे । ज्ञान को ग्रहणकर तथा विचारकर त्रस एवं स्थावर जीवों के द्वारा (चाहे गये) सुख को जानो ॥९॥

(पाप) कर्म को करनेवाले जीव पृथक्-पृथक् रूप से रोते हैं, छेदे जाते हैं (तथा) डरते हैं (यह) जानकर (पाप कर्म से) विरक्त तथा आत्मा की रक्षा करनेवाला विद्वान् भिक्षु त्रस एवं स्थावरों को देखकर (उनका) संहार न करे ।

जो धर्म से प्राप्त (भोजन) को छोड़कर (उत्तम) भोजन करता है, जो अंगों का संकोच करके अचित्त जल से (भी) स्नान करता है, जो (वस्त्रों को) धोता है, (तथा जो) वस्त्र को (छोटा-बड़ा करके) शोभा-जनक करता है वह निर्ग्रन्थों के भाव से दूर है (ऐसा तीर्थंकर एवं गणधरों ने) कहा है ॥११॥

पानी में (पाप) कर्म को जानकर धीर आदि (संसार) से मोक्ष तक प्रासुक जल से जिये । वह बीजकंद आदि को न खाता हुआ स्नान आदि में तथा स्त्रियों में विरक्त रहे ॥१२॥

२१. वाक्-शुद्धि[1]

तहेव फरुसा भासा गुरु-भूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा जओ पावस्स आगमो ॥१॥
तहेव काणं 'काणे' त्ति पण्डगं 'पण्डगे' त्ति वा ।
वाहियं वा वि 'रोगि' त्ति तेणं 'चोरे' त्ति नो वए ॥२॥
एएणन्नेण अट्ठेण परो जेणुवहम्मई ।
आयार-भाव-दोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं ॥३॥
तहेव 'होले' 'गोले' त्ति 'साणे' वा 'वसुले' त्ति य ।
'दमए' 'दूहए' वा वि न तं भासेज्ज पन्नवं ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

तथैव परुषा भाषा गुरुभूतोपघातिनी ।
सत्यापि सा न वक्तव्या यतः पापस्यागमः ॥१॥
तथैव काणं काण इति पण्डकं पण्डक इति वा ।
व्याधितं वाऽपि रोगीति स्तेनं चोर इति नो वदेत् ॥२॥
एतेनान्येनार्थेन परो येनोपहन्यते ।
आचार-भाव-दोषज्ञः, न तं भाषते प्रज्ञावान् ॥३॥
तथैव होलः गोल इति श्वा वा वसुल इति च ।
द्रमको दुर्भगो वाऽपि न तं भाषेत प्रज्ञावान् ॥४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

उसी प्रकार जो भाषा कठोर हो, बहुत जीवों का उपघात करनेवाली हो, वह सत्य होती हुई भी अवक्तव्य है, क्योंकि (उस भाषा से) पाप कर्म का आगम होता है ॥१॥

उसी प्रकार काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी तथा चोर को चोर न कहे ॥२॥

इससे तथा अन्य जिस अर्थ से दूसरा प्राणी पीड़ित होता है, उस (अर्थ) को आचर-भाव में दोष को जाननेवाला प्रज्ञावान् न कहे ॥३॥

उसी प्रकार (अमुक पुरुष) होल (दुराचारी) है, गोल (जारज) है, कुत्ता है तथा निष्ठुर है, दरिद्री है, अथवा अभागा है—इस प्रकार प्रज्ञावान् न बोले ॥४॥

---

१. दसवेयालिय सुत्त के सातवें अध्ययन की गाथा ११-२१ एवं ५४ ।

अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउसिउ त्ति य।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति धूए नत्तुणिए त्ति य ॥ ५ ॥
हले हले त्ति अन्ने त्ति भट्टे सामिणि गोमिणि।
होले गोले वसुले त्ति इत्थियं नेवमालवे ॥ ६ ॥
नामधेज्जेण णं बूया इत्थी-गोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ ७ ॥
अज्जए पज्जए वा वि बप्पो चुल्ल-पिउ त्ति य।
माउला भाइणेज्ज त्ति पुत्ते नत्तुणिय त्ति य ॥ ८ ॥
हे हो हले त्ति अन्न त्ति भट्टा सामिय गोमिय।
होल गोल वसुल त्ति पुरिसं नेवमालवे ॥ ९ ॥

(संस्कृतच्छाया)

आर्यिके प्रार्यिके वाऽपि अम्ब मातृष्वस इति च।
पितृष्वसः भागिनेयीति दुहितः नप्त्रीति च ॥५॥
हले हले इति अन्ने इति भट्टे स्वामिनि गोमिनि।
होले गोले वसुले इति स्त्रियं नैवमालयेत् ॥६॥
नामधेयेन तां ब्रूयात् स्त्री-गोत्रेण वा पुनः।
यथार्हमभिगृह्य आलपेत् लपेद्वा ॥७॥
आर्यक प्रार्यक वाऽपि बाप (पिता) चुल्लपितः इति वा।
मातुलो भागिनेय इति पुत्र नप्तृक इति च ॥८॥
भो भो हल इति अन्न इति भट्ट स्वामिन्, गोमिन्।
होल गोल वसुल इति पुरुषं नैवमालपेत् ॥९॥

(हिन्दी-अनुवाद)

आर्यिके (हे दादी), प्रार्यिके (हे परदादी) हे माँ, हे मौसी, हे बुआ, हे भानजी, हे बेटी, हे पोती हे हलेहले (हे सखी), हे अन्ने, हे भट्टे, हे स्वामिनि, हे गोमिनि (गाय वाली-सम्बोधन विशेष), हे होले (गँवारिन), हे गोले (जारजा दासी), हे वसुले (निष्ठुर या छिनाल)—इस प्रकार (सम्बोधनों से) स्त्री से बातचीत न करे ॥५-६॥

उस स्त्री से नाम से बोले अथवा स्त्री-गोत्र से बोले। यथायोग्य योग्यता का ग्रहणकर एक बार बोले या कई बार बोले ॥७॥

हे आर्यक (दादा), हे प्रार्यक (परदादा), हे पिता, हे चाचा, हे मामा, हे भानजे, हे पुत्र, हे नाती, हे हल, हे अन्न, हे भट्ट (भरण करनेवाले), हे स्वामिन्, हे गोमिन्, हे होल, हे गोल, हे वसुल—इस प्रकार पुरुष से नहीं कहे ॥८-९॥

नामधेज्जेण णं बूया पुरिस-गोत्तेण वा पुणो।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥ १० ॥
पञ्चिन्दियाण पाणाणं 'एस इत्थी, अयं पुमं'।
जाव णं न विजाणेज्जा ताव जाइ त्ति आलवे ॥ ११ ॥
तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा ओहारिणी जाय परोवघाइणी।
से कोह लोह भयं हास माणवो न हासमाणो वि गिरं वएजा ॥ १२ ॥

(संस्कृतच्छाया)

नामधेयेन तं ब्रूयात् पुरुषगोत्रेण वा पुनः।
यथार्हमभिगृह्य अलपेत् लपेद्वा ॥१०॥
पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनामेषा स्त्री अयं पुमान्।
यावदेतद् न विजानीयात् तावज्जातिरिति आलपेत् ॥ ११॥
तथैव सावद्यानुमोदिनी गीः अवधारिणी या च परोपघातिनी।
तां क्रोध-लोभ-भय-हासेभ्यो मानवः न हसन्नपि गिरं वदेत् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

नाम से या पुरुष-गोत्र से उस (पुरुष) को बुलाये। यथायोग्य विचारकर एक बार या बार-बार बात करे ॥१०॥

पञ्चेन्द्रिय प्राणियों के विषय में जब-तक यह स्त्री है या पुरुष है, यह निश्चयपूर्वक न जान ले, तब-तक जाति का आश्रय लेकर बोलना चाहिये ॥११॥

उसी प्रकार जो भाषा सावद्य हो, अनुमोदन करनेवाली हो, निश्चयकारिणी हो और दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाली हो, उसे क्रोध, लोभ, भय एवं हास से मनुष्य हँसता हुआ न बोले ॥१२॥

❁

२२. श्रेणिकराजस्य प्राणत्यागः[1]

तए णं से कूणिए राया चेल्लणाए देवीए अन्तिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म चेल्लणं देविं एवं वयासी—"दुट्ठु णं, अम्मो, मए, कयं सेणियं रायं पियं देवयं

(संस्कृतच्छाया)

अथ खलु स कूणिको राजा चेल्लनाया देव्या अन्तिके एतमर्थं श्रुत्वा निशम्य चेल्लनां देवीमेवमवादीत्—"दुष्ठु खलु अम्ब! मया कृतं श्रेणिकं राजानं प्रियं दैवतं

(हिन्दी-अनुवाद)

तदनन्तर उस कूणिक राजा ने चेल्लना देवी (के मुख) से इस वस्तुस्थिति को सुनकर चेल्लना देवी से इस प्रकार कहा—हे माँ! प्रिय, देवता-स्वरूप, अत्यन्त स्नेह

---

१. निरयावलियाओ के प्रथम वर्ग (पृ० १७-१८) से उद्धृत।

गुरुजणगं अच्चन्तनेहाणुरागरत्तं नियलबन्धणं करन्तेणं। तं गच्छामि णं सेणियस्स रन्नो सयमेव नियलानि छिन्दामि" त्ति कट्टु परसुहत्थगए जेणेव चारगसाला तेणेव पहारेत्थ गमणाए। तए णं सेणिए राया कूणियं कुमारं परसुहत्थगयं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता एवं वयासी—"एस णं कूणिए कुमारे अपत्थिय-पत्थिए दुरन्तपन्तलक्खणे हीणपुण्णचाउद्दसिए हिरिसिरिपरिवज्जिए परसुहत्थगए इह हव्वमागच्छइ। तं न नज्जइ णं ममं केणइ कुमारेणं मारिस्सइ"त्ति कट्टु भीए तत्थे तसिए उव्विग्गे संजायभए तालपुडगं विसं आसगंसि पक्खिवइ। तए णं से सेणिए राया तालपुडगविसंसि आसगंसि पक्खित्ते समाणे मुहुत्तान्तरेण परिणममाणंसि निप्पाणे निच्चेट्ठे जीवविप्पजढे ओइण्णे।

(संस्कृतच्छाया)

गुरुजनकमत्यन्तस्नेहानुरागरक्तं निगडबन्धनं कुर्वता। तद् गच्छामि खलु श्रेणिकस्य राज्ञः स्वयमेव निगडानि छिनद्मि" इति कृत्वा परशुहस्तगता यत्रैव चारकशाला तत्रैव प्रधारयति गमनाय। ततः खलु श्रेणिको राजा कूणिकं कुमारं परशुहस्तगतमेजमानं पश्यति, दृष्ट्वा एवमवादीत्-एष खलु कूणिकः कुमारोऽप्रार्थितप्रार्थितो दुरन्तप्रान्तलक्षणो हीनपुण्यचातुर्दशिको श्रीह्रीपरिवर्जितः परशुहस्तगत इह हव्यमागच्छति। तन्न ज्ञायते खलु मां केनापि कुमारेण (कुत्सितमारेण) मारयिष्यतीति कृत्वां भीतः त्रस्तः तृषित उद्विग्नः संजातभयस्तालपुटकं विषमास्ये प्रक्षिपति। ततः खलु स श्रेणिको राजा तालपुटकविषे आस्ये प्रक्षिप्ते सति मुहूर्त्तान्तरे परिणम्यमाने निष्प्राणो निश्चेष्टो जीवविप्रत्यक्तोऽवतीर्णः।

(हिन्दी-अनुवाद)

एवं अनुराग से अनुरक्त, गुरुजन के तुल्य श्रेणिक राजा को बेड़ी के बन्धन में करनेवाले मेरे द्वारा अनुचित काम किया गया। इसलिए जाता हूँ (और) श्रेणिक राजा की बेड़ियों को स्वयं काटता हूँ। इस प्रकार (कह) करके फरसा हाथ में लेकर जहाँ कारागार था वहीं जाने के लिए निश्चय किया! तदनन्तर श्रेणिक राजा ने फरसा हाथ में लेकर आते हुए कूणिक कुमार को देखा, देखकर इस प्रकार बोला—"यह अप्रार्थित (मरण) को चाहनेवाला, दुष्ट पर्यन्त खोटे लक्षणोंवाला, हीनपुण्य चतुर्दशी में उत्पन्न होनेवाला, लज्जा तथा शोभा से रहित फरसा हाथ में लिए हुए कूणिक कुमार यहाँ शीघ्रता से आ रहा है। इसलिए न जाने मुझको किस बुरी मार से मारेगा।" ऐसा (कह) करके डरा हुआ, काँपता हुआ, दुःखी, भयभीत (श्रेणिक राजा ने) तालपुटक (तत्काल प्राण-नाशक) विष को मुख में डाल लिया। तदनन्तर वह श्रेणिक राजा तालपुटक विष के मुख में डालते ही मुहूर्त-भर में फैलने पर प्राण एवं चेष्टा से रहित (तथा) जीव से परित्यक्त होता हुआ (भूमि पर) गिर गया।

तए णं से कूणिए कुमारे जेणेव चारगसाला तेणेव उवागए, उवागच्छित्ता सेणियं रायं निप्पाणं निच्चेट्ठं जीवविप्पजढं ओइण्णं पासइ पासित्ता महया पिइसोएणं अप्फुण्णे समाणे परसुनियत्ते विव चम्पगवर-पायवे धस त्ति धरणीयलंसि सव्वङ्गेहिं संनिवडिए। तए णं से कूणिए कुमारे मुहुत्तन्तरेण आसत्थे समाणे रोयमाणे कन्दमाणे सोयमाणे विलवमाणे एवं वयासी—"अहो णं मए अधन्नेणं अपुण्णेणं अकयपुण्णेणं दुट्ठु कयं सेणियं रायं पियं देवयं अच्चन्तनेहाणुरागरत्तं नियलबन्धणं करन्तेणं। ममभूलागं चेव णं सेणिए राया कालगए" त्ति।

(संस्कृतच्छाया)

ततः खलु स कूणिकः कुमारो यत्रैव चारकशाला तत्रैवोपागतः, उपगत्य श्रेणिकं राजानं जीवविप्रत्यक्तमवतीर्णं पश्यति, दृष्ट्वा महता पितृशोकेन आपूर्णः सन् परशुनिकृत्त इव चम्पकवरपादपः, धस इति धरणीतले सर्वाङ्गैः सन्निपतितः। ततः खलु स कूणिकः कुमारो मुहूर्त्तान्तरेण आश्वस्तः सन् रुदन् क्रन्दन् शोचन् विलपन् एवमवादीत्—"अहो खलु मया अधन्येनापुण्येनाकृतपुण्येन दुष्ठु कृतं श्रेणिकं राजानं प्रियं दैवतमत्यन्तस्नेहानुरागरक्तं निगडबन्धणं कुर्वता। मम मूलकं चैव खलु श्रेणिको राजा कालगत इति।

(हिन्दी-अनुवाद)

तदनन्तर वह कूणिक कुमार जहाँ पर कारागार था वहीं पर पहुँचा, पहुँचकर उसने प्राण एवं चेष्टा रहित जीव से परित्यक्त तथा (जमीन पर) गिरे हुए श्रेणिक राजा को देखा, देखकर भारी पितृशोक से आक्रान्त होते ही फरसे से कटे हुए उत्तम चम्पक के पेड़ की तरह "धस" इस प्रकार (की आवाज के साथ) सर्वाङ्गों के साथ पृथ्वी पर गिर गया। तदनन्तर वह कूणिक कुमार क्षण-भर में आश्वस्त होने पर रोता हुआ, कन्दन करता हुआ, विलाप करता हुआ इस प्रकार बोला—'अहो प्रिय, देवतास्वरूप, अत्यन्त स्नेह एवं अनुराग से अनुरक्त, श्रेणिक राजा को बेड़ियों के बन्धन करनेवाले अधन्य अपुण्य (पुण्य-हीन) अकृतपुण्य मेरे द्वारा अनुचित काम किया गया। मेरे ही कारण से श्रेणिक राजा मर गये।

२३. विनयोपदेशः[1]

१२. मा गलियस्से व कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो ।
कसं व दठ्ठुमाइण्णे पावगं परिवज्जए ॥१॥

१३. अणासवा थूलवया कुसीला मिउं पि चण्डं पकरिन्ति सीसा ।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया पसायए ते हु दुरासयं पि ॥२॥

१४. नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए ।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

१२. मा गल्यश्व इव कशं वचनमिच्छेत् पुनः पुनः ।
कशमिव दृष्ट्वा जात्यश्वः पापकं परिवर्जयेत् ॥१॥

१३. अनाश्रवाः स्थूलवचसः कुशीलाः मृदुमपि चण्डं प्रकुर्वन्ति शिष्याः ।
चित्तानुगा लघु दाक्ष्योपेताः प्रसादयेयुस्ते खलु दुराशयमपि ॥२॥

१४. नापृष्टो व्याकरेत् किञ्चित् पृष्टो वा नालीकं वदेत् ।
क्रोधमसत्यं कुर्वीत धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

१२. अड़ियल घोड़े के चाबुक की तरह (शिष्य गुरु के उपदेश या आदेश रूप) वचन को बार-बार न चाहे (अपितु) चाबुक को देखकर कुलीन घोडे की तरह पाप (गलत रास्ते) को छोड़ दे। (अर्थात् जैसे अड़ियल घोड़ा बार-बार चाबुक की अपेक्षा करता है उसी प्रकार शिष्य गुरु के उपदेश या आदेश की बारम्बार अपेक्षा न करे अपितु जिस प्रकार कुलीन घोड़ा चाबुक को देखते ही गलत रास्ते को छोड़ देता है उसी प्रकार शिष्य गुरु के इशारे-मात्र से अशुभ आचरण छोड़ दे।)

१३. (गुरु की आज्ञा को) नहीं सुननेवाले, अनाप-शनाप बोलनेवाले दुराचारी, शिष्य कोमल (स्वभाववाले गुरु) को भी कठोर बना देते हैं (तथा) मन के अनुसार चलनेवाले तथा दक्षता से युक्त वे (शिष्य) लोग गलत आशयवाले (गुरु) को भी जल्दी प्रसन्न कर देते हैं।

१४. बिना पूछे कुछ भी नहीं बोले। पूछे जाने पर असत्य नहीं बोले। क्रोध को असत्य (शान्त) कर दे। प्रिय एवं अप्रिय को धारण करे।

---

१. उत्तराध्ययनसूत्र के प्रथम-अध्ययन से उद्धृत।

१७. पडणीयं च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से नेव कुज्जा कयाइ वि ॥४॥

२०. आयरिएहि वाहित्तो तुसिणीओ न कयाइ वि ।
पसायपेही नियागट्ठी उवचिट्ठे गुरुं सया ॥५॥

२१. आलवन्ते लवन्ते वा न निसीएज्ज कयाइ वि ।
चइऊणमासणं धीरो जओ जत्तं पडिस्सुणे ॥६॥

२२. आसणगओ न पुच्छेज्जा नेव सेज्जागओ कया ।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो पुच्छिज्जा पंजलीउडो ॥७॥

२९. हियं विगयभया बुद्धा परुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं खन्तिसोहिकरं पयं ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

१७. प्रत्यनीकं च बुद्धानां वाचा अथवा कर्मणा ।
आविर्वा यदि वा रहस्ये नैव कुर्यात् कदाचिदपि ॥४॥

२०. आचार्यैर्व्याहृतः तूष्णीको न कदाचिदपि ।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी (निजकार्थी) उपतिष्ठेद् गुरुं सदा ॥५॥

२१. आलपति लपति वा न निषीदेत् कदाचिदपि ।
त्यक्त्वा आसनं धीरः यतो यत्तत् प्रतिश्रृणुयात् ॥६॥

२२. आसनगतो न पृच्छेत् नैव शय्यागतः कदा ।
आगम्योत्कुटुकः सन् पृच्छेत् प्राञ्जलिपुटः ॥७॥

२९. हितं विगतभया बुद्धाः परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वेष्यं तद्भवति मूढानां क्षान्तिशोधिकरं पदम् ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

१९. सबके सामने या एकान्त में वचन से या कर्म से गुरुजनों के प्रतिकूल व्यवहार न करे ।

२०. गुरुजनों के द्वारा बुलाया गया शिष्य कभी भी मौन न रहें । (उनके) प्रसाद को चाहनेवाला, मोक्ष का इच्छुक (शिष्य) सदा गुरु के पास रहे ।

२१. (गुरु के द्वारा) बार-बार या एक-बार बुलाने पर कभी भी बैठा न रहे (किन्तु गुरु-जन) जो कहें उसे आसन छोड़कर धीर (पुरुष) यत्न के साथ स्वीकार करे ।

२२. आसन पर स्थित होकर कभी नहीं पूछे और न ही शय्या पर स्थित होकर (अपितु) (गुरुजन) के पास आकर उकड़ूं बैठकर हाथ जोड़कर पूछे ।

२९. भय से रहित बुद्धिमान् शिष्य (गुरु के) कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं, (परन्तु) मूर्ख शिष्यों के लिए क्षमा एवं शुद्धि को करनेवाला (हित) वाक्य द्वेष के योग्य (बुरा प्रतीत) होता है ।

३०. आसणे उवचिट्ठेज्जा अणुच्चे अकुए थिरे।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥९॥

४०. न कोवए आयरियं अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया न सिया तोत्तगवेसए ॥१०॥

४१. आयरियं कुवियं नच्चा पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पंजलिउडो वएज्ज न पुणु त्ति य ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

३०. आसनं उपतिष्ठेत् अनुच्चे अकुचे स्थिरे।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी निषीदेदल्पकुत्कुचः ॥९॥

४०. न कोपयेदाचार्यं आत्मानमपि न कोपयेत्।
बुद्धोपघाती न स्यात् न स्यात् तोत्रगवेषकः ॥१०॥

४१. आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा प्रातिकेन प्रसादयेत्।
विध्यापयेत् प्राञ्जलिपुटः वदेन्न पुनरिति च ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

३०. (शिष्य ऐसे) आसन पर बैठे जो (गुरु के आसन से) ऊँचा न हो, हिलता न हो तथा स्थिर हो, (अर्थात् जिसके पाये जमीन पर टिके हुए हों) (विशेष प्रयोजन होने पर भी) बहुत कम उठनेवाला, (अन्यथा) नहीं उठनेवाला चुलबुले-पन से रहित होकर बैठे।

४०. आचार्य को क्रोधित न करे। अपने को भी क्रोधित न करे। गुरु का विनाश करनेवाला न हो (तथा उनका) छिद्रान्वेषी न हो।

४१. आचार्य को कुपित जानकर विश्वासकारक वचनों से प्रसन्न करे। हाथ जोड़कर (उन्हें) मनाये तथा कहे कि फिर नहीं (करूँगा)।

२४. जीवस्य दश दशाः[1]

आउसो ! एवं जायस्य जंतुस्स कमेण दस दसा एवमाहिज्जंति। तं जहा—

बाला किड्डा मंदा बला य पण्णा य हायणि-पवंचा।
पब्भारा मुम्मुही सायणी य दसमा य कालदसा ॥ १ ॥
जायमित्तस्स जंतुस्स जा सा पढमिया दसा।
न तत्थ सुहं दुक्खं वा न हु जाणंति बालया ॥ २ ॥
बीईयं च दसं पत्तो नाणा कीलाहिं कीडइ।
न य से कामभोगेसु तिव्वा उप्पज्जई रई ॥ ३ ॥
तइयं च दसं पत्तो पंचकामगुणे नरो।

(संस्कृतच्छाया)

आयुष्मन् ! एवं जातस्य जन्तोः क्रमेण दश दशाः एवमाख्यायन्ते। तद्यथा—

बाला क्रीडा मन्दा बला च प्रज्ञा हायनी प्रपञ्चा।
प्राग्भारा मुन्मुखी शायिनी दशमी च कालदशा ॥१॥
जातमात्रस्य जन्तोर्या सा प्राथमिकी दशा।
न तत्र सुखं दुःखं वा न हि जानन्ति बालकाः ॥२॥
द्वितीयाञ्च दशां प्राप्तो नानाक्रीडाभिः क्रीडति।
न च तस्य कामभोगेषु तीव्रोत्पद्यते रतिः ॥३॥
तृतीयाञ्च दशां प्राप्तः पञ्च कामगुणान्नरः।

(हिन्दी-अनुवाद)

हे आयुष्मन् ! इस प्रकार (गर्भ से) उत्पन्न जीव की क्रमशः दश दशाएँ कहीं जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—

बाला, क्रीडा, मन्दा, बला, हायनी, प्रपञ्चा, प्राग्भारा, मुन्मुखी और दशवीं शायिनी कालदशा है ॥ १ ॥

पैदा होनेवाले जीव की जो यह पहली दशा है उसमें बालक सुख अथवा दुःख को नहीं जानते हैं ॥ २ ॥

द्वितीय दशा को प्राप्तकर (जीव) नाना क्रीडाओं से खेलता है। (उस समय) उसकी काम-भोगों में तीव्र अनुरक्ति उत्पन्न नहीं होती है।

तृतीय दशा को प्राप्त मनुष्य पाँच कामगुणों से युक्त भोगों को भोगने के लिए

---

१. श्री तन्दुलवैचारिक-प्रकीर्णकं के पत्र १६ (गाथा ३१–४१) से उद्धृत।

समत्थो भुंजिउं भोए जइ से अत्थि घरे धुवा ॥ ४ ॥
चउत्थी उ बला नाम जं नरो दासमस्सिओ ।
समत्थो बलं दरिसेउं जइ भवे निरुवद्दवो ॥ ५ ॥
पंचमी उ दसं पत्तो आणुपुव्वीए जो नरो ।
समत्थोऽत्थं विचिंतेउं कुडुंबं चाभिगच्छइ ॥ ६ ॥
छट्ठीओ हायणी नामा जं नरो दसमस्सिओ ।
विरज्जइ उ कामेसुं इंदियेसु य हायइ ॥ ७ ॥
सत्तमी य पवंचा ओ जं नरो दसमस्सिओ ।
निच्छुभइ चिक्कणं खेलं खासई य खणे खणे ॥८॥
संकुइयवलीचम्मो संपत्तो अट्ठमी दसं ।

(संस्कृतच्छाया)

समर्थो भोक्तुं, भोगान् यदि तस्यास्ति गृहे ध्रुवा ॥४॥
चतुर्थी तु बला नाम यां नरो दशामाश्रितः ।
समर्थो बलं दर्शयितुं यदि भवेन्निरुपद्रवः ॥५॥
पञ्चमीं तु दशां प्राप्तः आनुपूर्व्या यो नरः ।
समर्थोऽर्थं विचिन्तयितुं कुटुम्बञ्चाभिगच्छति ॥६॥
षष्ठी तु हायनी-नाम्नी यां नरो दशामाश्रितः ।
विरज्यते च कामेषु इन्द्रियेषु च हीयते ॥७॥
सप्तमी च प्रपञ्चा तु यां नरो दशामाश्रितः ।
निक्षिपति चिक्कणं श्लेष्माणं कासते च क्षणे क्षणे ॥८॥
संकुचितवलिचर्मा सम्प्राप्तोऽष्टमीं दशाम् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

समर्थ होता है, यदि उसके घर स्थिर (सम्पत्ति) हो ॥ ४ ॥

चौथी बला नाम (की दशा है) जिस दशा के आश्रित मनुष्य बल दिखाने के लिए समर्थ होता है यदि (वह रोगादि) उपद्रवों से रहित हो ॥ ५ ॥

जो मनुष्य क्रम पाँचवीं दशा को प्राप्त हो गया है, अर्थ की चिन्ता करने में समर्थ (वह) कुटुम्ब को प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

छठी हायनी नाम (की दशा है) जिस दशा के आश्रित मनुष्य काम (भोगों) से विरक्ति को प्राप्त करता है तथा इन्द्रियों में क्षीण हो जाता है ॥ ७ ॥

सातवीं (प्रपञ्चा दशा है) जिस दशा के आश्रित मनुष्य चिकना कफ बाहर फेंकता है और क्षण-क्षण में खांसता रहता है ॥८॥

संकुचित एवं झुर्री युक्त चर्मवाला, आठवीं दशा को प्राप्त एवं बुढ़ापे से बदला

नारीणं च अणिट्ठो य जराए परिणामिओ ॥९॥
नवमी मुम्मुही नाम जं नरो दसमस्सिओ।
जराघरे विणस्सते जीवो वसइ अकामओ ॥१०॥
हीणभिन्नसरो दीणो विवरीओ विचित्तओ।
दुब्बलो दुक्खिओ सुयई सम्पत्तो दसमीं दसं ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

नारीणाञ्चानिष्टश्च जरया परिणामितः ॥९॥
नवमी मुन्मुखी नाम यां नरो दशामाश्रितः।
जरागृहे विनश्यति जीवो वसत्यकामतः ॥१०॥
हीनभिन्नस्वरो दीनो विपरीतो विचित्तकः।
दुर्बलो दुःखितः स्वपिति सम्प्राप्तो दशमीं दशाम् ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

हुआ (मनुष्य) स्त्रियों के लिये अप्रिय हो जाता है ॥९॥

नौवीं मुन्मुखी नाम (की दशा है) जिस दशा के आश्रित मनुष्य जीव इच्छा रहित होकर नष्ट-प्राय जरा-गृह में रहता है ॥१०॥

मन्द एवं खण्डित स्वरवाला, दीन, विपरीत एवं विक्षिप्त (ऐसा) दशवीं अवस्था को प्राप्त मनुष्य दुर्बल एवं दुःखी होकर सोता रहता है ॥११॥

जैन-शौरसेनी-प्राकृत[1]

प्रमुख विशेषताएँ

१, अनादि असंयुक्त क, ग, आदि व्यञ्जनों का प्रायः लोप हो जाता है। तत्पश्चात् यदि अ या आ अवशिष्ट रहे तो लुप्त व्यञ्जन के स्थान पर य-श्रुति होती है, जैसे—सामायिकम्=सामइयं, वचनैः=वयणेहिं, योगिनी= जोइणी, गजाः = गया आदि।

२. यदि लुप्त वर्ण के पूर्व उकार हो तो प्रायः व-श्रुति हो जाती है, जैसे- मनुजः = मणुवो, उदरम्=उवरं।

३. कुछ स्थलों पर क को ग एवं त को द हो जाता है, जैसे—अवकाशम् = अवगासं, एकम्=एगं, गतीनाम्=गदीणं, भणितः = भणिदो।

४. अनुनासिक व्यञ्जनों में केवल ण एवं म का ही अस्तित्व पाया जाता है। स्ववर्ग के पूर्व आने वाले ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, को नियम से अनुस्वार हो जाता है। न्न को ण्ण होता है, जैसे—नियमेन = णियमेण, भुजङ्ग = भुयंगो, किञ्चित= किंचि, खण्डेषु=खंडेसु, वन्दितः = वंदिओ, संप्राप्तिः=संपत्ती, भिन्नं=भिण्णं।[2]

---

१. (अ) दिगम्बर जैनों के आगम-ग्रन्थों की भाषा को जैन-शौरसेनी संज्ञा दी गई। वास्तव में यह भाषा शौरसेनी-प्राकृत का ही प्रारम्भिक रूप है। नाटकों में पाई जानेवाली शौरसेनी इसी का परिष्कृत रूप है। इसमें हमें अर्ध-मागधी-प्राकृत से साम्यता रखनेवाले कुछ वर्ण-विकार मिलते हैं, जिससे कि वर्तमान शौरसेनी से यह कुछ भिन्न प्रतीत होती है। अतएव इसे 'जैन-शौरसेनी'—यह संज्ञा दे दी गई। इतना अवश्य है कि जिन्होंने केवल संस्कृत नाटकों में विद्यमान शौरसेनी-प्राकृत के अंशों का सामान्य अध्ययन किया हो उन्हें जैन-शौरसेनी-प्राकृत कुछ अपरिचित-सी प्रतीत होगी। जैन-शौरसेनी-प्राकृत के ज्ञान के लिये कहीं-कहीं अर्ध-मागधी के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। अतः इसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख उसे पृथक् भाषा मानकर किया गया है। इसके प्रमुख ग्रन्थ प्रवचनसार, समयसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि हैं।

(ब) इस भाषा के विस्तृत ज्ञान के लिये देखिए—डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित प्रवचनसार एवं कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थों की भूमिकाएँ।

२. पिशल ने अर्धमागधी, जैनमहाराष्ट्री एवं जैनशौरसेनी में शब्द के प्राथमिक न एवं मध्यगत न्न को अपरिवर्तित बताया है (देखिए पि० प्रा० पारा नं० २१६) किन्तु जैनशौरसेनी में दोनों (न, न्न) ही नहीं पाये जाते हैं।

५. कुछ स्थलों पर व्यञ्जनों में द्वित्वीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है, जैसे—त्रिलोकशिखामणिः=तिल्लोयसिहामणी, शौचम्=सउच्चं।

६. कहीं-कहीं विभक्ति-प्रत्यय से शून्य पद दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—अध्रुवमशरणं भणिताः=अद्धुव असरण भणिया।

७. सप्तमी विभक्ति के एकवचन में ङि को म्हि भी होता है, स्वरूपे=सरुवम्हि, लोके=लोयम्हि।

८. क्त्वा के स्थान पर त्ता, च्चा भी होते हैं, जैसे—ज्ञात्वा=जाणित्ता, कृत्वा=किच्चा आदि।

●

२५. दशधर्माणि[1]

उत्तमखममद्दवज्जवसच्चसउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥१॥
कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहो तस्स खमा होदि धम्मोत्ति ॥२॥
कुलरूवजादिवुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशोचं च संयमश्चैव।
तपस्त्याग आकिञ्चन्यं ब्रह्म इति दशविधं भवति ॥१॥
क्रोधोत्पत्तेः पुनः बहिरङ्गं यदि भवेत् साक्षात्।
न करोति कञ्चिदपि क्रोधं तस्य क्षमा भवति धर्म इति ॥२॥
कुलरूपजातिबुद्धिषु तपश्रुतशीलेषु गर्वं किंचित्।
यो नैव करोति श्रमणो मार्दवधर्मो भवेत् तस्य ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

उत्तम-क्षमा, उत्तम-मार्दव, उत्तम-आर्जव, उत्तम-सत्य, उत्तम-शौच, उत्तम-संयम, उत्तम-तप, उत्तम-त्याग, उत्तम-आकिंचन्य और उत्तम-ब्रह्मचर्य—ये (मुनिधर्म के) दस भेद हैं ॥१॥

यदि क्रोध की उत्पत्ति का साक्षात् बहिरंग कारण हो, फिर भी जो जरा भी क्रोध नहीं करता, उसके क्षमा-धर्म होता है ॥२॥

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत और शील का किञ्चित् भी मद नहीं करता, उसके मार्दव-धर्म होता है ॥३॥

---

१. षट्प्राभृतादिसंग्रहः के अन्तर्गत बारह अणुपेक्खा (पहली शताब्दी) से उद्धृत।

मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदएण चरदि जो समणो ।
अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण ॥४॥
परसंतावयकारणवयणं मोत्तूण सपरहिदवयणं ।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं ॥५॥
कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो ।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं ॥६॥
वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजंएण ।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा ॥७॥
विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए ।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

मुक्त्वा कुटिलभावं निर्मलहृदयेन चरति य श्रमणः ।
आर्जवधर्मः तृतीयस्तस्य संभवति नियमेन ॥४॥
परसंतापककारणवचनं मुक्त्वा स्वपरहितवचनम् ।
यो वदति भिक्षुः तुरीयः तस्य तु धर्मः भवेत् सत्यम् ॥५॥
कांक्षाभावनिवृत्ति कृत्वा वैराग्यभावनायुक्तः ।
यो वर्तते परममुनिः तस्य तु धर्मः भवेत् शौचम् ॥६॥
व्रतसमितिपालनेन दण्डत्यागेन इन्द्रियजयेन ।
परिणममानस्य पुनः संयमधर्मो भवेत् नियमात् ॥ . ॥
विषयकषायविनिग्रहभावं कृत्वा ध्यानस्वाध्यायेन ।
यो भावयति आत्मानं तस्य तप भवति नियमेन ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो श्रमण कुटिल-भाव को छोड़कर निर्मल हृदय से आचरण करता है उसके नियम से तीसरा आर्जव-धर्म होता है ॥४॥

दूसरों को सन्ताप (उत्पन्न) करनेवाले वचनों को छोड़कर जो भिक्षु अपना और दूसरों का हित करनेवाले वचन बोलता है उसके चौथा सत्य-धर्म होता है ॥५॥

जो उत्कृष्ट मुनि आकांक्षा भाव को दूर करके वैराग्य भावना से युक्त रहता है, उसके शौच-धर्म होता है ॥६॥

मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति को त्याग कर और इन्द्रियों को जीतकर जो पाँच महाव्रतों को धारण करता है और पाँच समितियों का पालन करता है उसके नियम से संयम-धर्म होता है ॥७॥

विषय और कषाय भाव का विनिग्रह करके जो ध्यान और स्वाध्याय के द्वारा आत्मा की भावना भाता है उसके नियम से तप-धर्म होता है ॥८॥

णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इदि भणिदं जिणवरिंदेहिं ॥९॥
होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण य वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं ॥१०॥
सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भावं।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

निर्वेगत्रिकं भावयेत् मोहं त्यक्त्वा सर्वद्रव्येषु।
यस्तस्य भवेत् त्याग इति भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥९॥
भूत्वा च निस्सङ्गः निज भावं निगृह्य सुखदुःखदम्।
निर्द्वन्द्वेन तु वर्तते अनगारः तस्याकिञ्चन्यम् ॥१०॥
सर्वाङ्गं पश्यन् स्त्रीणां तासु मुञ्चति दुर्भावम्।
स ब्रह्मचर्य्यभावं सुकृती खलु दुर्द्धरं धरति ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जो समस्त द्रव्यों से मोह त्यागकर तीन प्रकार के निर्वेद को भाता है उसके त्याग-धर्म होता है—ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥९॥

जो मुनि समस्त परिग्रह को छोड़कर और सुख-दुःख देनेवाले आत्मभावों का निग्रह करके निर्द्वन्द्व रहता है उसके आकिंचन्य-धर्म होता है ॥१०॥

जो स्त्रियों के सब अंगों को देखता हुआ भी उसमें खोटे भाव नहीं करता, वह धर्मात्मा दुर्धर ब्रह्मचर्य-भाव का धारी है ॥११॥

२६. समताभ्यासः[1]

सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केण वि।
आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ॥ १ ॥

(संस्कृतच्छाया)

साम्यं मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनाऽपि।
आशां व्युत्सृज्य इमं समाधिं प्रतिपद्ये ॥१॥

(हिन्दी-अनुवाद)

मेरा समस्त प्राणियों में समभाव हो। मेरा किसी के साथ भी वैर न हो। (मैं) तृष्णा को छोड़कर इस समाधि को लगा रहा हूँ ॥ १ ॥

---

१. मूलाचार (पहली शताब्दी) के दूसरे अध्याय से उद्धृत।

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ॥ २ ॥
रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥ ३ ॥
ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥ ४ ॥
आदा हु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोए ॥ ५ ॥
एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्य जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ ॥ ६ ॥

(संस्कृतच्छाया)

क्षमे सर्वजीवान् सर्वे जीवा क्षमन्तां मम।
मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनाऽपि ॥२॥
रागबंधं प्रद्वेषं च हर्षं दीनभावकम्।
उत्सुकत्वं भयं शोकं रतिमरतिं च व्युत्सृजामि ॥३॥
ममतां परिवर्जयामि निर्ममत्वमुपस्थितः।
आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषान् व्युत्सृजामि ॥४॥
आत्मा हि मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥५॥
एकश्च म्रियते जीव एकश्च उत्पद्यते।
एकस्य जातिमरणं एकः सिद्ध्यति नीरजः ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(मैं) समस्त जीवों को क्षमा करता हूँ। समस्त जीव मुझे क्षमा करें! मेरा समस्त जीवों में मैत्री (भाव) हो, मेरा किसी के साथ भी वैर न हो ॥ २ ॥

(मैं) राग का बन्धन, प्रकृष्ट-द्वेष, हर्ष, (याञ्चा आदि) दीन-भाव, उत्सुकता, भय, शोक, रति (इष्ट की प्राप्ति), अरति (इष्ट की अप्राप्ति) को छोड़ता हूँ ॥ ३ ॥

निर्ममत्व में उपस्थित (मैं) ममता को छोड़ता हूँ। मेरा आलम्बन (आश्रय) आत्मा है! अवशिष्ट सभी को छोड़ता हूँ ॥ ४ ॥

मेरे ज्ञान में आत्मा है, मेरे दर्शन और चरित्र में आत्मा है। प्रत्याख्यान (परित्याग की प्रतिज्ञा) में आत्मा है, आश्रव-निरोधरूप शुभ-व्यापार में मेरी आत्मा है ॥५॥

जीव अकेला मरता है और अकेला उत्पन्न होता है अकेले का जन्म-मरण होता है! अकेला कर्म-मल से रहित (मुक्त) होता है ॥ ६ ॥

एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसो मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥ ७ ॥
संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं ।
तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥८॥
मूलगुण-उत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण ।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥९॥
अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्ति ।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥१०॥
सत्त भए अट्ठ मए सण्णा चत्तारि गारवे तिण्णि ।
तेतीसच्चासणाओ रायद्दोसं च गरिहामि ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः ।
शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥७॥
संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात् संयोगसम्बन्धं सर्वं त्रिविधेन व्युत्सृजामि ॥८॥
मूलगुणोत्तरगुणेषु यो मया न आराधितः प्रमादेन ।
तमहं सर्वं निन्दामि प्रतिक्रमामि आगमिष्याणाम् ॥९॥
असंयममज्ञानं मिथ्यात्वं सर्वमेव च ममत्वं ।
जीवेष्वजीवेषु च तत् निन्दामि तच्च गर्हे ॥१०॥
सप्त भयानि अष्टौ मदान् संज्ञाश्चतस्रः गौरवाणि त्रीणि ।
त्रयस्त्रिंसदत्यासादनां रागद्वेषौ च गर्हे ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

ज्ञान-दर्शनरूप अकेली मेरी आत्मा नित्य है। मेरे बाकी समस्त बाह्य (अनात्मीय) पदार्थ संयोग-रूप हैं ॥ ७ ॥

संयोग के कारण जीव ने दुःख-परम्परा प्राप्त की। इसलिये समस्त संयोग सम्बन्ध को त्रिविध (मन, वचन, काय) से छोड़ता हूँ ॥८॥

मूल-गुणों में तथा उत्तर-गुणों में जो कुछ मेरे द्वारा प्रमाद से न किया गया हो मैं उस सब की निन्दा करता हूँ। भविष्य में भी उनसे निवृत्त होता हूँ ॥९॥

(जो) जीव तथा अजीव में असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व तथा समस्त ममत्व है उसकी निन्दा करता हूँ, दूसरों से प्रकट करता हूँ ॥१०॥

सात-भय, आठ-मद, चार-संज्ञाएँ, तीन-गौरव तथा तेतीस-पदार्थों के सम्बन्ध की तथा रागद्वेष की निन्दा करता हूँ।

णिंदामि णिंदणिज्जं गरिहामि य जं च मे गरिहणीयं ।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

निन्दामि निन्दनीयं गर्हे च यच्च मे गर्हणीयम् ।
आलोचयामि च सर्वं साभ्यन्तरबाह्यं उपधिम् ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

निन्दनीय की निन्दा करता हूँ और दूसरे प्रकट करने योग्य (गुरु) से प्रकट करता हूँ तथा समस्त आन्तरिक एवं बाह्य परिग्रह की आलोचना करता हूँ ॥१२॥

२७. आत्मप्रशंसा त्याज्या[1]

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा ।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुओ होदि हु जणम्मि ॥१॥
संता वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व्व सुरा ।
सो चेव हवदि दोसो जं सो थोएदि अप्पाणं ॥२॥
संता हि गुणा अकहंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्सन्ति ।
अकहंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो ॥३॥

(संस्कृतच्छाया)

आत्मप्रशंसां परिहरत मा भवत यशोविनाशकराः ।
आत्मानं स्तुवन् तृण-लघुको भवति खलु जने (षु) ॥१॥
सन्तोऽपि गुणाः कत्थमानकस्य नश्यन्ति काञ्जिकेनेव सुरा ।
स एव भवति दोषो यत् सः स्तौत्यात्मानम् ॥२॥
सन्तो हि गुणा अकथयतः पुरुषस्य नाऽपि च नश्यन्ति ।
अकथयतोऽपि यथा ग्रहपतेर्जगद्विश्रुतं तेजः ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

आत्मप्रशंसा को त्यागो । (अपने) यश का विनाश करनेवाले मत बनो । अपनी स्तुति करनेवाला मनुष्यों में तृण के समान लघु होता है ॥१॥

अपनी प्रशंसा करनेवाले व्यक्ति के विद्यमान गुण भी कांजी से सुरा (के उन्माद) की तरह नष्ट हो जाते हैं । वही दोष होता है जो वह अपनी स्तुति करता है ॥२॥

तथा नहीं कहनेवाले व्यक्ति के विद्यमान गुण नष्ट नहीं होते हैं । जैसे नहीं कहनेवाले भी सूर्य का तेज संसार में प्रसिद्ध है ॥३॥

---

१. मूलाराधना (३री शताब्दी) की गाथा ३५९ से ३६९ तक ।

ण य जायंति असन्ता गुणा वि कत्थंतयस्स पुरिसस्स।
धंति(तो) हु महिलायंतो वि पंडवो पंडवो चेव ॥४॥
संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा ॥५॥
अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व्व सुजणमज्झम्मि।
सो चेव होदि दु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ ॥६॥
वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवदि तेसिं।
होदि दु चरिदेण गुणाण कहणमुब्भासणं तेसिं ॥७॥
वायाए अकहंता सयणे य कहंतया चरित्तेहिं।
सगुणे पुरिसा पुरिसाण होंति उवरिम्मि लोगम्मि ॥८॥

(संस्कृतच्छाया)

न च जायन्ते असन्तो गुणा अपि कत्थयमानकस्य पुरुषस्य।
नितरां खलु महिलायमानोऽपि पंढकः पंढक एव ॥४॥
सन्तं स्वगुणं कीर्त्यमानं सुजनो जने (षु) श्रुत्वा।
लज्जते कथं पुनः स्वयमेव आत्मगुणकीर्तनं कुर्यात् ॥५॥
अविकत्थमानोऽगुणोऽपि भवति सगुण इव सुजनमध्ये।
स एव भवति खलु गुणो यदात्मानं न स्तौति ॥६॥
वाचया यत्कथनं गुणानां तन्नाशनं भवति तेषाम्।
भवति खलु चरितेन गुणानां कथनमुद्भासनं तेषाम् ॥७॥
वाचया अकथयमानाः स्वजने (षु) च कथयमानकाश्चरित्रैः।
स्वगुणान् पुरुषाः पुरुषाणां भवन्ति उपरि लोके ॥८॥

(हिन्दी-अनुवाद)

कहनेवाले पुरुष के भी अविद्यमान गुण पैदा नहीं होते हैं। अत्यधिक महिला के समान आचरण करता हुआ भी नपुंसक नपुंसक ही है ॥४॥

अपने विद्यमान गुण की प्रशंसा को पुरुषों में सुनकर (सज्जन) लज्जित(-सा) होता है फिर (वह) कैसे स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा करेगा ? ॥५॥

अपनी प्रशंसा न करता हुआ गुणहीन व्यक्ति भी सज्जन-पुरुषों में गुणवान् की तरह लगता है। वही निश्चय से (उसका) गुण है जो (वह) अपनी प्रशंसा नहीं करता है ॥६॥

जो वाणी से गुणों का कथन है वह उन (गुणों) का नाश करना है। आचरण से गुणों का कथन उन (गुणों) का प्रकाशन है ॥७॥

अपने व्यक्तियों में अपने गुणों को वाणी से न कहनेवाले पुरुष चरित्र से अपने गुणों को कहने के कारण संसार में पुरुषों के ऊपर होते हैं ? ॥८॥

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होइ लहुगो वि कत्थंतो ।
सगुणो वा अकहंतो वायाए होइ अगुणेसु ॥९॥
चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो ।
वायाए वि कहंतो अगुणो व्व जणम्मि अगुणम्मि ॥१०॥
सगणे व परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह ।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

सगुणे जने सगुणोऽपि भवति लघुकोऽपि कत्थमानः ।
सगुणो वा अकथयन् वाचया भवति अगुणेषु ॥९॥
चरितैः कत्थमानः स्वगुणं सगुणेषु शोभते सगुणः ।
वाचयापि कथयन्नगुणः इव जनेऽगुणे ॥१०॥
स्वगणे वा परगणे वा परपरिवादं वा कृथाः ।
अत्यासादन-विरता भवत सदावद्यभीरवश्च ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

गुणयुक्त मनुष्यों में गुणवान् भी मनुष्य आत्मप्रशंसा करता हुआ अथवा गुणहीन व्यक्तियों में वाणी से (गुणों को) न कहता-हुआ गुणवान् लघु (तुच्छ) होता है ॥९॥

चरित्र से अपने गुणों की प्रशंसा करनेवाला गुणवान् व्यक्ति गुणवाले व्यक्तियों में शोभित होता है । जैसे गुणहीन व्यक्ति गुणहीन व्यक्तियों में वाणी से (अपना गुण) कहता हुआ शोभित है ॥१०॥

अपने संघ में या पर-संघ में दूसरों का परिवाद (अपवाद, निन्दा) मत करो । पर की विराधना (अत्यासाधना) से विरत होओ और सदा पाप से डरनेवाले होओ ।

●

२८. कल्पवृक्षाः[1]

पाणंगतूरियंगा भूसणवत्थंगभोयणंगा य ।
आलयदीवि(व)यभायणमालातेजंगआदिकप्पतरू ॥१॥

(संस्कृतच्छाया)

पानाङ्गतूर्याङ्गा भूषणवस्त्राङ्गभोजनाङ्गाश्च ।
आलयदीपकभाजनमालातेजोङ्गादिकल्पतरवः ॥१॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(भोगभूमि में) पानाङ्ग, तूर्याङ्ग, भूषणाङ्ग, वस्त्राङ्ग, भोजनाङ्ग, आलयाङ्ग, दीपकाङ्ग, भाजनाङ्ग, मालाङ्ग, तेजाङ्ग आदि कल्पवृक्ष होते हैं ॥१॥

---

१. तिलोयपण्णत्ती (वि. ६ वीं शताब्दी) के चतुर्थ महाधिकार से उद्धृत ।

पाणं मधुरसुसादं छरसेहिं जुदं पसत्थमइसीदं ।
बत्तीसभेदजुत्तं पाणंगा देंति तुट्ठिपुट्ठियरं ॥२॥
तूरंगा वरवीणापटुपटहमुइंगझल्लरीसंखा ।
दुंदुभिभंभाभेरीकाहलपहुदाइ देंति तूरग्गा ॥३॥
तरुओ वि भूसणंगा कंकणकडिसुत्तहारकेयूरा ।
मंजीरकडयकुंडलतिरीडमउडादियं देंति ॥ ४ ॥
वत्थंगा णित्तं पडचीणसुवरखउमपहुदिवत्थाणि ।
मणणयणाणंदकरं णाणावत्थादि ते देंति ॥५॥
सोलसविहमाहारं सोलसभेयाणि वेंजणाणि पि ।
चोद्दसविहसोवाइं खज्जाणि विगुणचउवण्णं ॥६॥

(संस्कृतच्छाया)

पानं मधुरसुस्वादं षड्रसैर्युतं प्रशस्तमतिशीतम् ।
द्वात्रिंशद्भेदयुक्तं पानाङ्गा ददति तुष्टिपुष्टिकरम् ॥२॥
तूर्याङ्गा वरवीणापटुपटहमृदङ्गझल्लरीशङ्खान् ।
दुन्दुभिभम्भाभेरीकाहलप्रभृतीनि ददति तूर्याग्राणि ॥३॥
तरवोऽपि भूषणाङ्गाः कङ्कणकटिसूत्रहारकेयूरान् ।
मञ्जीरकटककुण्डलकिरीटमुकुटादिकं ददति ॥४॥
वस्त्राङ्गा नित्यं पटचीनसुवरक्षौमप्रभृतिवस्त्राणि ।
मनोनयनानन्दकरं नानावस्त्रादयस्ते ददति ॥५॥
षोडशविधमाहारं षोडशभेदानि व्यञ्जनान्यपि ।
चतुर्दशविधसूपानि खाद्यानि द्विगुणचतुःपञ्चाशत् ॥६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

पानाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) मधुर, सुस्वाद, छह रसों से युक्त, प्रशस्त, अति-शीत और तुष्टि एवं पुष्टि को करनेवाले ऐसे बत्तीस प्रकार के पेय द्रव्य को दिया करते हैं ॥२॥

तूर्याङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) उत्तम-वीणा, पटु-पटह (अच्छा नगाड़ा), मृदंग, झालर, शंख, दुंदुभि, भंभा (भेरी) और काहल इत्यादि उत्कृष्ट वादित्रों (बाजों) को देते हैं ॥३॥

भूषणाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) कङ्कण, कटि-सूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट और मुकुट इत्यादि आभूषणों को प्रदान करते हैं ॥४॥

वे वस्त्राङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) नित्य चीन-पट, एवं उत्तम क्षौमादि वस्त्र तथा मन और नयनों को आनन्दित करनेवाले नाना प्रकार के वस्त्रादि देते हैं ॥५॥

भोजनाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) सोलह प्रकार का आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन,

सायाणं च पयारे तेसट्ठीसंजुदाणि तिसयाणि ।
रसभेदा तेसट्ठी देंति फुडं भोयणंगदुमा ॥७॥
सत्थिअणंदावत्तप्पमुहा जे के वि दिव्वपासादा ।
सोलसभेदा रम्मा देंति हु ते आलयंगदुमा ॥८॥
दीवंगदुमा साहापवालफलकुसुममंकुरादीहिं ।
दीवा इव पज्जलिदा पासादे देंति उज्जोवं ॥९॥
भायणअंगा कंचणवहुरयणविणिम्मियाइ धवलाइं ।
भिंगारकलसगग्गरिचामरपीढादियं देंति ॥१०॥
वल्लीतरुगुच्छलदुब्भवाण सोलससहस्सभेदाणं ।
मालंगदुमा देंति हु कुसुमाणं विविहमालाओ ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

स्वाद्यानां च प्रकारे त्रिषष्टिसंयुतानि त्रिशतानि ।
रसभेदाः त्रिषष्टिः ददति स्फुटं भोजनाङ्गद्रुमाः ॥७॥
स्वस्तिकनन्द्यावर्तप्रमुखा ये केऽपि दिव्यप्रासादाः ।
षोडशभेदा रम्या ददति खलु ते आलयाङ्गद्रुमा ॥८॥
दीपाङ्गद्रुमाः शाखाप्रवालफलकुसुमाङ्कुरादिभिः ।
दीपा इव प्रज्ज्वलिताः प्रासादे ददति उद्द्योतम् ॥९॥
भाजनाङ्गाः कञ्चनबहुरत्नविनिर्मितानि धवलानि ।
भृङ्गारकलशगर्गरीचामरपीठादिकं ददति ॥१०॥
वल्लीतरुगुच्छलतोद्भवानां षोडशसहस्रभेदानाम् ।
मालाङ्गद्रुमा ददति खलु कुसुमानां विविधमालाः ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

चौदह प्रकार के सूप (दाल), चौवन के दुगने अर्थात् एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थों और तिरठस प्रकार के रसभेदों को दिया करते हैं ॥६-७॥

आलयांग (जाति के कल्पवृक्ष) स्वस्तिक और नन्द्यावर्त, इत्यादि जो सोलह प्रकार के रमणीय दिव्य भवन होते हैं, उनको दिया करते हैं ॥८॥

दीपाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) प्रासादों में शाखा, प्रवाल (नवजात पत्र), फल, फूल और अङ्कुरादि के द्वारा जलते हुए दीपकों के समान प्रकाश देते हैं ॥९॥

भाजनाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) सुवर्ण तथा बहुत से रत्नों से निर्मित धवल झारी, कलश, गागर और आसनादिक प्रदान करते हैं ॥१०॥

मालाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) वल्ली, तरु, गुच्छ और लताओं से उत्पन्न हुए सोलह हजार प्रकार के पुष्पों की विविध मालाओं को देते हैं ॥११॥

तेजंगा मज्झंदिणदिणयरकोडीण किरणसंकासा।
णक्खत्तचंदसूरप्पहुदीणं कंतिसंहरणा ॥१२॥

(संस्कृतच्छाया)

तेजोऽङ्गा मध्यंदिनदिनकरकोटीनां किरणसङ्काशाः।
नक्षत्रचन्द्रसूर्यप्रभृतीनां कान्तिसंहरणाः ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

तेजाङ्ग (जाति के कल्पवृक्ष) दोपहर के करोड़ों सूर्योंकी किरणों के समान होते हुए नक्षत्र, चन्द्र और सूर्यादिक की कान्ति का संहरण करते हैं ॥१२॥

२९. पञ्चपरमेष्ठिनः[1]

णिद्दड्ढ-मोह-तरुणो वित्थिण्णाणाण-सायरुत्तिण्णा।
णिहय-णिय-विग्घ-वग्गा बहु-बाह-विणिग्गया अयला ॥१॥
दलिय-मयण—प्पयावा तिकाल-विसएहि तीहि णयणेहि।
दिठ्ठ-सयलट्ठ-सारा सुदड्ढ-तिउरा मुणिव्वइणो ॥२॥
ति-रयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर-कवंध-बिंद-हरा।

(संस्कृतच्छाया)

निर्दग्ध-मोह-तरवो विस्तीर्णाज्ञान-सागरोत्तीर्णाः।
निहत-निज-विघ्न-वर्गा बहुबाधाविनिर्गता अचलाः ॥१॥
दलित-मदन-प्रतापाः त्रिकालविषयैस्त्रिभिर्नयनैः।
दृष्टसकलार्थसाराः सुदग्धत्रिपुरा मुनिव्रतिनः ॥२॥
त्रिरत्नत्रिशूलधारका मोहान्धासुरकबंधवृन्दहराः।
सिद्धसकलात्मरूपाः अर्हन्तो दुर्नयकृतान्ताः ॥३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

जिन्होंने मोहरूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विस्तीर्ण-अज्ञानरूपी समुद्र से उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकार की बाधाओं से रहित हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रताप को दलित कर दिया है, जिन्होंने तीन कालों को विषय करनेरूप तीन नेत्रों से सकल पदार्थों के सार को देख लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह राग और द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो मुनियों के पति (ईश्वर) हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-

---

१. षट्खंडागम की धवला-टीका (८ वीं शताब्दी के पहले भाग से उद्धृत।

सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता ॥३॥
णिहय-विविहट्ठ-कम्मा तिहुवण-सिर-सेहरा विहुव-दुक्खा ।
सुह-सायर-मज्झग-या णिरंजणा णिच्च अट्ठ-गुणा ॥४॥
अणवज्जा कय कज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठ-सव्वट्ठा ।
वज्ज-सिलत्थब्भग्गय पडिमं वाभेज्ज-संठाणा ॥५॥
माणुस-संठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
सव्विंदियाण विसयं जमेग-देसे विजाणंति ॥६॥
पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो ।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो ॥७॥

(संस्कृतच्छाया)

निहितविविधाष्टकर्माणः त्रिभुवनशिरः शेखरा विधूतदुःखाः ।
सुखसागरमध्यगता निरञ्जना नित्या अष्टगुणाः ॥४॥
अनवद्याः कृतकार्याः सर्वावयवैर्दृष्टसर्वार्थाः ।
वज्रशिलास्तम्भगताः प्रतिमा इवाभेद्यसंस्थानाः ॥५॥
मानुषसंस्थाना अपि खलु सर्वावयवैः नो गुणैः समाः ।
सर्वेन्द्रियाणां विषयं यदेकदेशे विजानन्ति ॥६॥
प्रवचन-जलधि-जलोदरस्नातामलबुद्धिशुद्धषडावश्यकः ।
मेरुरिव निष्प्रकम्पः शूरः पंचाननो वर्यः ॥७॥

(हिन्दी-अनुवाद)

चारित्र—इन तीन रत्नरूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्ध-वृन्द का हरण कर लिया है, जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नय का अन्त कर दिया है, ऐसे अरिहंत परमेष्ठी हैं ॥१-३॥

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मों का नाश कर दिया है, जो तीन लोक के मस्तक के शेखर स्वरूप हैं, दुःखों से रहित हैं, सुखरूपी सागर में निमग्न हैं, निरंजन (अज्ञान) से रहित हैं, नित्य हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, अनवद्य (निर्दोष) हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वाङ्ग से अथवा पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है, जो वज्रशिला-र्निमित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार वाले हैं, जो पुरुषाकार होने पर भी गुणों से पुरुष के समान नहीं हैं, क्योंकि, (पुरुष) सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषय को एक देश में जानते हैं, (वे सिद्ध हैं) ॥ ४-६ ॥

प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से जिनकी बुद्धि शुद्ध हो गई है, जो निर्दोष रीति से छह आवश्यकों (नित्य क्रियाओं) का पालन करते हैं, मेरु पर्वत के समान निष्कम्प हैं, शूर वीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं,

देस-कुल-जाइ-सुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को ।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई ॥८॥
संगह-णिग्गह-कुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहिय-कित्ती ।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो ॥९॥
चोद्दस-पुव्व-महोयहिमहिगम्म सिव-त्थिओ सिवत्थीणं ।
सीलंधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झायो ॥१०॥
सीह-गय-वसह-मिय-पसु-मारुद-सूरुवहि-मंदरिंदु-मणी ।
खिदि-उरगंबर-सरिसा परम-पय-विमग्गया साहू ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

देशकुलजातिशुद्धः सौम्याङ्गः संगभङ्गोन्मुक्तः ।
गगनमिव निरुपलेपः आचार्य ईदृशो भवति ॥८॥
संग्रहनिग्रहकुशलः सूत्रार्थविशारदः पृथितकीर्तिः ।
सारणवारणसाधनक्रियोद्युक्तः खलु आचार्यः ॥९॥
चतुर्दशपूर्वमहोदधिमधिगम्य शिवार्थिकः शिवार्थिनाम् ।
शीलन्धराणां वक्ता भवति मुनीश उपाध्यायः ॥१०॥
सिंहगजवृषभमृगपशुमारुतशूरोदधिमन्दरेन्दुमणयः ।
क्षित्युरगाम्बरसदृशाः परमपथविमार्गकाः साधवः ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य (परमेष्ठी) होते हैं। जो संघ के संग्रह (दीक्षा) और निग्रह (शिक्षा और प्रायश्चित्त) देने में कुशल हैं, सूत्र के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण (आचरण), वारण (निषेध) और साधन (व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं) में निरन्तर उद्युक्त रहते हैं, उन्हें आचार्य (परमेष्ठी) समझना चाहिए ॥७-९॥

जो साधु चौदह पूर्व-रूपी समुद्र में प्रवेश करके मोक्ष-मार्ग में स्थित हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों (मुनियों) को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय (परमेष्ठी) कहते हैं ॥१०॥

सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्र प्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरी-वृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग (सब जगह बिना रुकावट के विचरनेवाले), सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि (सागर) के समान गम्भीर, सुमेरु-पर्वत के समान परीषह और उपसर्गों के आने पर अकम्प रहनेवाले, चन्द्रमा के समान शान्ति-दायक, मणि के समान प्रभा-पुंज से युक्त, क्षिति के समान समस्त बाधाओं को सहनेवाले, सर्प के समान दूसरों के बनाये हुये अनियत आश्रय (वसतिका) में निवास करनेवाले, आकाश के समान निर्लेप सदाकाल परम-पद (मोक्ष) का अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं ॥११॥

३०. धर्म-माहात्म्यम्[1]

गाथा ४२६ धम्मं ण मुणदि जीवो अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण ।
काउं तो वि ण सक्कदि मोहपिसाएण भोलविदो ॥१॥

गाथा ४२७ जह जीवो कुणइ रइं पुत्त-कलत्तेसु काम-भोगेसु ।
तह जइ जिणिंद-धम्मे तो लीलाए सुहं लहदि ॥२॥

गाथा ४२८ लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ ।
बीएण विणा कत्थ वि किं दीसदि सस्स-णिप्पत्ति ॥३॥

गाथा ४२९ जो धम्मत्थो जीवो सो रिउ-वग्गे वि कुणइ खम-भावं ।
ता पर-दव्वं वज्जइ जणणि समं गणइ पर-दारं ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ४२६ धर्मं न जानाति जीवोऽथवा जानाति कथमपि कष्टेन ।
कर्त्तुं ततोऽपि न शक्नोति मोहपिशाचेन भ्रामितः ॥१॥

गाथा ४२७ यथा जीवः करोति रतिं पुत्रकलत्रेषु कामभोगेषु ।
तथा यदि जिनेन्द्रधर्मे तल्लीलया सुखं लभेत ॥२॥

गाथा ४२८ लक्ष्मीं वाञ्छति नरो नैव सुधर्मेषु आदरं करोति ।
बीजेन विना कुत्रापि किं दृश्यते सस्यनिष्पत्तिः ॥३॥

गाथा ४२९ यो धर्मस्थो जीवः स रिपुवर्गेऽपि करोति क्षमाभावम् ।
तत् परद्रव्यं वर्जयति जननीसमं गणयति परदारान् ॥४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रथम तो जीव धर्म को जानता हीं नहीं है, यदि किसी प्रकार कष्ट उठाकर उसे जानता भी है, तो मोहरूपी पिशाच के चक्कर में पड़कर उसका पालन नहीं कर सकता ॥१॥

जैसे यह जीव स्त्री-पुत्र वगैरह से तथा काम-भोग से प्रेम करता है, वैसे यदि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म से प्रीति करे तो लीला-मात्र से ही सुख को प्राप्त कर सकता है ॥२॥

यह मनुष्य लक्ष्मी तो चाहता है किन्तु सुधर्म में आदर नहीं करता । क्या कहीं बिना बीज के भी धान्य की उत्पत्ति देखी गई है ? ॥३॥

जो जीव धर्म का आचरण करता है, वह शत्रुओं पर भी क्षमा-भाव रखता है, पराये द्रव्य को ग्रहण नहीं करता और पराई स्त्री को माता के सामान मानता है ॥४॥

---

१. कार्तिकेयानुप्रक्षा (१०-११वीं शताब्दी) से उद्धृत ।

गाथा ४३० ता सव्वत्थ वि कित्ती ता सव्वत्थ वि हवेइ वीसासो।
ता सव्वं पिय भासइ ता सुद्धं माणसं कुणइ ॥५॥

गाथा ४३१ उत्तम-धम्मेण जुदो होदि तिरिक्खो वि उत्तमो देवो।
चंडालो वि सुरिंदो उत्तम-धम्मेण संभवदि ॥६॥

गाथा ४३२ अग्गी वि य होदि हिमं होदि भुयंगो वि उत्तमं रयणं।
जीवस्स सुधम्मादो देवा वि य किंकरा होंति ॥७॥

गाथा ४३३ तिक्खं खग्गं माला दुज्जय-रिउणो सुहंकरा सुयणा।
हालाहलं पि अमियं महावया संपया होदि ॥८॥

गाथा ४३४ अलिय-वयणं पि सच्चं उज्जम-रहिए वि लच्छि-संपत्ती।
धम्म-पहावेण णरो अणओ वि सुहंकरो होदि ॥९॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ४३० तत् सर्वत्राऽपि कीर्तिस्तत् सर्वत्राऽपि भवति विश्वासः।
तत् सर्वं प्रियं भासते तत् शुद्धं मानसं करोति ॥५॥

गाथा ४३१ उत्तमधर्मेण युतो भवति तिर्यगपि उत्तमो देवः।
चण्डालोऽपि सुरेन्द्रः उत्तमधर्मेण संभवति ॥६॥

गाथा ४३२ अग्निरपि च भवति हिमं भवति भुजङ्गोऽपि उत्तमं रत्नम्।
जीवस्य सुधर्माद् देवा अपि च किङ्करा भवन्ति ॥७॥

गाथा ४३३ तीक्ष्णः खड्गो माला दुर्जयरिपवः सुखंकराः सुजनाः।
हालाहलमप्यमृतं महापत् सम्पद् भवति ॥८॥

गाथा ४३४ अलीकवचनमपि सत्यं उद्यमरहितेऽपि लक्ष्मीसंप्राप्तिः।
धर्मप्रभावेण नरोऽनयोऽपि सुखंकरो भवति ॥९॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(धर्मात्मा जीव की) सब जगह कीर्ति होती है, सब लोग उसका विश्वास करते हैं, वह सबके प्रति प्रिय वचन बोलता है और अपने तथा दूसरों के मन को शुद्ध करता है ॥५॥

उत्तम धर्म से युक्त तिर्यञ्च भी उत्तम देव होता है तथा उत्तम धर्म से युक्त चाण्डाल भी सुरेन्द्र हो जाता है ॥६॥

उत्तम धर्म के प्रभाव से अग्नि शीतल हो जाती है, महा विषधर सर्प रत्नों की माला हो जाता है और देव भी दास हो जाते हैं ॥७॥

धर्म के प्रभाव से तीक्ष्ण तलवार माला हो जाती है, दुर्जय शत्रु सुख देनेवाले आत्मीय बन जाते हैं, तत्काल मारने वाला हालाहल विष भी अमृत हो जाता है और बड़ी भारी आपत्ति भी सम्पत्ति हो जाती है ॥८॥

धर्म के प्रभाव से असत्य-वचन भी सच्चे हो जाते हैं, उद्यम न करनेवाले मनुष्य को भी लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाती है और अन्याय भी सुखकारी हो जाता है ॥९॥

गाथा ४३५ देवो वि धम्मचत्तो मिच्छत्त-वसेण तरुवरो होदि ।
चक्की वि धम्मरहिओ णिवडइ णरए ण संदेहो ॥१०॥

गाथा ४३६ धम्म-विहूणो जीवो कुणइ असक्कं पि साहसं जइ वि ।
तो ण वि पावदि इट्ठं सुट्ठु अणिट्ठं परं लहदि ॥११॥

गाथा ४३७ इय पच्चक्खं पेच्छह धम्माहम्माण विविह-माहप्पं ।
धम्मं आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ॥ १२॥

(संस्कृतच्छाया)

गाथा ४३५ देवोऽपि धर्मत्यक्तो मिथ्यात्ववशेन तरुवरो भवति ।
चक्री अपि धर्मरहितो निपतति नरके न संदेहः ॥१०॥

गाथा ४३६ धर्मविहीनो जीवः करोत्यशक्यमपि साहसं यद्यपि ।
तन्नापि प्राप्नोति इष्टं सुष्ठु अनिष्टं परं लभते ॥११॥

गाथा ४३७ इति प्रत्यक्षं पश्यत धर्माधर्मयोः विविधमाहात्म्यम् ।
धर्मं आचरत सदा पापं दूरेण परिहरत ॥१२॥

(हिन्दी-अनुवाद)

धर्म से रहित देव भी मिथ्यात्व के वश में होकर वनस्पतिकाय में जन्म लेता है, और धर्म से रहित चक्रवर्ती भी मरकर नरक में जाता है, इसमें सन्देह नहीं है ॥१०॥

धर्म से रहित जीव यदि अतुल्य साहस भी करे तो भी इष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता, बल्कि उल्टा अनिष्ट को ही प्राप्त करता है ॥११॥

अतः हे प्राणियों ! इस प्रकार धर्म और अधर्म का अनेक प्रकार का माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्म का आचरण करो और पाप को दूर से ही त्यागो ॥ १२ ॥

जैन-महाराष्ट्री-प्राकृत

प्रमुख विशेषताएँ

(१) अनादि असंयुक्त क, ग, आदि व्यञ्जनों का लोप हो जाता है। यदि लुप्त व्यञ्जनों के अनन्तर अ या आ हो तो य-श्रुति होती है, जैसे—राजधूता = रायधूया, निपतिता = निवडिया, वचनम् = वयणं, भगवती = भयवई।

(२) कुछ स्थलों पर अनादि असंयुक्त क लुप्त न होकर अर्धमागधी-प्राकृत की भाँति ग में परिवर्तित हो जाता है, जैसे—एकाकिनी = एगागिणी, आकृतिः = आगिई, शोकः = सोगो, अनुकरोति = अणुगरेइ।

(३) शब्द के प्रारम्भ में स्थित न तथा मध्य में स्थित न्न प्रायः अपरिवर्तित रहता है, जैसे—मुनिकुमारेण = मुणिकुमारेण, नाभिः = नाही, दर्शनम् = दंसणं, अन्यथा = अण्णहा, विपन्नः = विवन्नो।

(४) शब्द-रूप तथा धातु-रूप भी प्राकृत के सामान्य नियमों के अनुसार चलते हैं किन्तु कहीं-कहीं अर्धमागधी के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—तृतीया विभक्ति के एकवचन में मणसा, वयसा कायसा आदि शब्द-रूप एवं वर्तमान-काल प्रथमपुरुष एकवचन में कुव्वइ, आइक्खइ आदि धातुरूप।

(५) कहीं-कहीं समस्तपद में उत्तर-पद के पूर्व अनुस्वार (म्) का आगम हो जाता है, जैसे—निरयगामी = निरयंगामी।

(६) अर्धमागधी की तरह कहीं-कहीं यथा के स्थान पर जहा एवं अहा तथा यावत् के स्थान पर जाव एवं आव आदेश होते हैं।

---

१. श्वेताम्बर-जैनों के आगमेतर प्राकृत-ग्रन्थों की भाषा में महाराष्ट्री-प्राकृत (सामान्य-प्राकृत) के साथ-साथ यत्र-तत्र अर्धमागधी प्राकृत के भी प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए इसे "जैन महाराष्ट्री" नामक संज्ञा दी गई है। यह नाम सुविधा की दृष्टि से पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रखा गया है। कालान्तर में यही भाषा अर्ध-मागधी-प्राकृत के प्रभाव से मुक्त होकर महाराष्ट्री-प्राकृत के रूप में हमारे सामने आई। अतः जैन-महाराष्ट्री प्राकृत को हम महाराष्ट्री-प्राकृत (सामान्य-प्राकृत) का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं। हेमचन्द्र कृत प्राकृत-व्याकरण में लुप्त व्यञ्जनों के स्थान पर केवल अ या आ परे रहते य-श्रुति एवं शब्द के प्रारम्भिक न को वैकल्पिक ण आदेश का विधान इस बात का संकेत है कि हेमचन्द्र जैन-महाराष्ट्री को भी उस भाषा के अन्तर्गत मानते थे जिसे उन्होंने सामान्य-प्राकृत नाम से कहा है।

(७) अर्धमागधी की ही तरह क्त्वा के स्थान पर कहीं-कहीं इत्ता आदेश भी हो जाता है, जैसे—वन्दित्वा = वन्दित्ता, आर्द्रयित्वा = उल्लेत्ता।

३१. राम-विलाप[1]

पुणरवि सरिऊण पियं, मुच्छं गन्तूण तत्थ आसत्थो।
परिभमइ गवेसन्तो, सीयासीयाकउल्लावो ॥१॥
भो भो मत्तमहागय ! एत्थारण्णे तुमे भमन्तेणं।
महिला सोमसहावा, जइ दिट्ठा किं न साहेहि ॥२॥
तरुवर तुमं पि वच्चसि दुरुन्नयवियडपत्तलच्छाय।
एत्थं अपुव्ववणिया, कह ते नो लक्खिया रण्णे ॥३॥
सोऊण चक्कवाइं वाहरमाणिं सरस्स मज्झत्थं।
महिलासङ्काभिमुहो, पुणो वि जाओ च्चिय निरासो ॥४॥

(संस्कृतच्छाया)

पुनरपि स्मृत्वा प्रियां मूर्छां गत्वा तत्र आश्वस्तः।
परिभ्रमति गवेषमाणः सीता सीता (इति) कृतोल्लापः ॥१॥
भो भो महामत्तगज ! अत्रारण्ये त्वया भ्राम्यता।
महिला सौम्यस्वाभावा यदि दृष्टा किं न कथयसि ॥२॥
तरुवर ! त्वमपि वर्तसे दूरोन्नतविकटपत्रलच्छाय।
अत्रापूर्ववनिता कथं (किं) त्वया नो लक्षिता अरण्ये ॥३॥
श्रुत्वा चक्रवाकीं व्याहरमाणां सरसो मध्यस्थाम्।
महिलाशङ्काभिमुखः पुनरपि जात एव निराशः ॥४॥

(हिन्दी-अनुवाद)

प्रिया (सीता) का स्मरणकर (वे) फिर-से मूर्छित हो गये. होश में आने पर 'सीता सीता' ऐसा चिल्लाकर उसे ढूँढते हुए (वे) घूमने लगे ॥१॥

हे महामत्तगज ! यदि इस जंगल में घूमते हुए तुम्हारे द्वारा सौम्य स्वभाववाली महिला देखी गई हो (तो) क्यों नहीं कहते ॥२॥

हे तरुवर ! तुम भी बहुत ऊँचे एवं सघन पत्तों की छायावाले हो। क्या तुम्हारे द्वारा इस जंगल में अपूर्वनारी (तो) नहीं देखी गई ? ॥३॥

सरोवर के बीच में स्थित चक्रवाकी को बोलते सुन महिला की आशङ्का से राम उस ओर अभिमुख हुए लेकिन बाद में निराश हो गये ॥४॥

---

१. पउमचरियं (दूसरी शताब्दी) के ४४वें पर्व से उद्धृत।

रोसपसरन्तहियओ वज्जावत्तं धणुं समारुहिउं ।
अप्फालेइ महप्पा, भयजणणं सव्वसत्ताणं ॥५॥
मोत्तूण सीहनायं, पुणो विसायं खणेण संपत्तो ।
सोयइ मए वराई, जणयसुया हारिया रण्णे ॥६॥
इह मणुयसायरवरे, महिलारयणुत्तमं महं नट्ठं ।
न लभामि गवेसन्तो, धणियं पि सुदीहकालेणं ॥७॥
वग्घेण व सीहेण व खइया किं ? मारिया व हत्थीणं ?
बहुजलकल्लोलाए अवहरिया गिरिनदीए व्व ? ॥८॥
दिट्ठा दिट्ठासि मए, एहेहि इओ इओ कउल्लावो ।
धावइ तओ तओ च्चिय पडिसद्दयमोहिओ रामो ॥९॥

(संस्कृतच्छाया)

रोषप्रसरद्हृदयो वज्रावर्तं धनुः समारोह्य ।
आस्फालयति महात्मा भयजननं सर्वसत्त्वानाम् ॥५॥
मुक्त्वा सिंहनादं पुनः विषादं क्षणेण सम्प्राप्तः ।
शोचति मया वराकी जनकसुता हारिताऽरण्ये ॥६॥
इह मनुजसागरवरे महिलारत्नोत्तमं मे नष्टम् ।
न लभे गवेषयन्नधिकमपि सुदीर्घकालेन ॥७॥
व्याघ्रेण वा सिंहेन वा खादिता किं मारिता वा हस्तिभिः ।
बहुजलकल्लोलया अवहृता गिरिनद्या वा ॥८॥
दृष्टा दृष्टाऽसि मया एहि एहि इत इतः कृतोल्लापः ।
धावति ततस्तत एव प्रतिशब्दकमोहितो रामः ॥९॥

(हिन्दी-अनुवाद)

रोष से व्याप्त हृदयवाले महात्मा राम ने सब तत्त्वों को भयभीत करनेवाले वज्रावर्त धनुष को चढ़ाकर उसका आस्फालन किया ॥५॥

सिंहनाद छोड़कर (करके) पुनः क्षणभर में (वे) दुःखी हो गये। (वे) शोक करने लगे कि बेचारी जनक-सुता मेरे द्वारा जंगल में खो दी गई है ॥६॥

इस बड़े भारी मानव-सागर में मेरा उत्तम महिला-रत्न नष्ट हो गया है। बहुत समय से अत्यधिक खोजने पर भी (वह) मुझे नहीं मिली ॥७॥

क्या व्याघ्र या सिंह द्वारा खा ली गई है, अथवा हाथियों द्वारा मार डाली गई है या अधिक जल-तरंगोंवाली गिरि-नदी (पार्वतीय नदी) के द्वारा छीन ली गई है ? ॥८॥

'मेरे द्वारा देख ली गई, देख ली गई हो इधर आओ, इधर आओ'—इस प्रकार प्रलाप को करते हुए और प्रतिध्वनि से मोहित राम जहाँ-तहाँ दौड़ते थे ॥९॥

अहवा दुट्ठेण इहं, केण व हरिया महं हिययइट्ठा ?
धणगिरि-तरुसंछन्नं कत्तो रण्णं गवेसामि ॥१०॥
एवं परिहिण्डिऊणं, तं रण्णं राहवो पडिनियत्तो।
जाओ निरासहियओ, निययावासे तओ सुयइ ॥११॥

(संस्कृतच्छाया)

अथवा दुष्टेनेह केन वा हृता मम हृदयेष्टा।
घनगिरितरुसञ्छन्नं कुतोऽरण्यं गवेषयामि ॥१०॥
इति परिहिण्ड्य तदरण्यं राघवः प्रतिनिवृत्तः।
जातो निराशहृदयो निजकावासे ततः स्वपिति ॥११॥

(हिन्दी-अनुवाद)

अथवा यहाँ किसी दुष्ट के द्वारा मेरी हृदय-प्रिया का अपहरण (तो नहीं) कर लिया गया है। (अतः) सघन पर्वतों एवं वृक्षों से आच्छन्न वन में (उसे) कहाँ खोजूँ ? ॥१०॥

इस प्रकार उस जंगल में परिभ्रमण करके राघव वापस लौटे और मन में निराश होकर अपने आवास में सो गये ॥११॥

●

३२. शठे शाठ्यं समाचरेत्

अत्थि कोइ कम्हिइ गामिल्लओ गहवती परिवसइ। सो य अण्णया कयाइं सगडं धण्णभरियं काऊणं सगडे य तित्तिरिं पंजरगयं बंधेत्ता पट्ठिओ नयरं। नयरगतो य गंधियपुत्तेहिं दीसइ। सो य तेहिं पुच्छिओ—किं एयं ते पंजरए त्ति। तेण लवियं—तित्तिरि त्ति। तओ तेहिं लवियं—किं इमा सगडतित्तिरी

(संस्कृतच्छाया)

अस्ति कोऽपि कस्मिञ्चिद् ग्रामीणको गृहपतिः परिवसति। स च अन्यदा कदाचित् शकटं धान्यभरितं कृत्वा शकटे च तित्तिरिं पञ्जरगतं बद्ध्वा प्रस्थितो नगरम्। नगरगतश्च गान्धिकपुत्रैर्दृश्यते। स च तैः पृष्टः—किमेतत् ते पञ्जरके इति ? तेन लपितम्—तित्तिरिरिति। ततः तैर्लपितम्—किमयं शकट-तित्तिरिः विक्रीयते ?

(हिन्दी-अनुवाद)

कहीं पर (किसी ग्राम में) कोई ग्रामीण गृहपति रहता था। किसी समय (एक-बार) वह गाड़ी में धान्य भरकर तथा गाड़ी पर पिंजड़े में स्थित तीतर को बाँधकर नगर को गया। नगर में पहुँचने पर उसे गांधिक-पुत्रों (गन्ध बेचने वाले) ने देखा। उन्होंने उससे पूछा—तुम्हारे पिंजड़े में यह क्या है ? उसने कहा—तीतर। तब

विक्कायइ ? तेण लवियं—आमं विक्कायइ। तेहिं भणिओ—किं लब्भइ ? सागडिएण भणियं—काहावणेणं ति। ततो तेहिं काहावणो दिण्णो सगडं तित्तिरिं च घेत्तुं पयत्ता। ततो तेणं सागडिएणं भण्णति—कीस एयं सगडं नेहि त्ति ? तेहिं भणियं—मोल्लेण लइययं ति। ततो ताणं ववहारो जाओ, जितो सो सागडिओ, हिओ य सो सगडो तित्तिरीए समं। सो सागडिओ हियसगडोवगरणो जोगखेम-निमित्तं आणिएल्लयं बइल्लं घेत्तूणं विक्कोसमाणो गंतु पयत्तो, अण्णेण य कुलपुत्त-एणं दीसइ, पुच्छिओ य—कीस विक्कोससि ? तेण लवियं—सामि ! एवं च एवं च अइसंधिओ हं। ततो तेण साणुकंपेण भणिओ—वच्च ताणं चेव गेहं, एवं च एवं च भणाहि त्ति। ततो सो तं वयणं सोऊण गओ, गंतूण य तेण भणिआ—सामि ! तुब्भेहिं मम भंडभरिओ

(संस्कृतच्छाया)

तेन लपितम्—आम्, विक्रीयते। तैर्भणितः—किं लभ्यते ? शाकटिकेन भणितम्—कार्षापणेनेति। ततः तैः कार्षापणो दत्तः शकटं तित्तिरिञ्च गृहीतुं प्रयताः। ततः तेन शाकटिकेन भण्यते—कस्मादेतं शकटं नयथ इति ? तैर्भणितम्—मूल्येन लब्धकमिति। ततः तेषां व्यवहारो जातः, जितः सः शाकटिकः, हृतश्च स शकटः तित्तिरिणा समम्। स शाकटिकः हृतशकटोपकरणो योगक्षेमनिमित्तमानीतकं बलिवर्दं गृहीत्वा विक्रोशन् गन्तुं प्रवृत्तः; अन्येन च कुलपुत्रकेन दृश्यते; पृष्टश्च—कस्माद् विक्रोशसि ? तेन लपितं—स्वामिन् ! एवञ्च एवञ्चातिसंहितोऽहम्। ततस्तेन सानुकम्पेन भणितः—व्रज तेषामेव गेहं, एवञ्च एवञ्च भण इति। ततः स तं वचनं श्रुत्वा गतः; गत्वा च भणिताः—स्वामिनः ! युष्माभिर्मम भाण्डभरितः शकटः हृतः तस्मादिममपि बलिवर्दं

(हिन्दी-अनुवाद)

उन्होंने कहा—क्या यह गाड़ी-तीतर विकाऊ है ? उसने कहा—हाँ, विकाऊ है। उन्होंने कहा—क्या लोगे ? गाड़ीवाले ने कहा—(एक) कार्षापण। तदनन्तर उन्होंने कार्षापण दिया (तथा) गाड़ी और तीतर लेने लगे। तब उस गाड़ीवाले ने कहा—यह गाड़ी क्यों ले जा रहे हो ? उन्होंने कहा—कीमत देकर ली है। तब उनमें झगड़ा हो गया। वह गाड़ीवाला जीत लिया गया और वह तीतर तथा गाड़ी छुड़ा ली गई। तब गाड़ी रूप साधन छिनने पर गाड़ीवाला योग-क्षेम के निमित्त के लिए लाये गये बैल को लेकर कोसता हुआ जाने लगा। किसी कुलपुत्र ने (उसे) देखा और पूछा—क्यों कोस रहे हो ? उसने कहा—मालिक ! इस-इस तरह मैं ठगा गया। तब दयायुक्त होकर उसने कहा—उन्हीं के घर जाओ और इस तरह से कहो। तब वह उस बात को सुनकर गया और जाकर उसने (उन गांधिक-पुत्रों से) कहा—मालिक ! तुम लोगों

---

१. वसुदेवहिण्डिप्रथमखण्ड (५वीं शताब्दी) के पृ० ५७-५८ से उद्धृत।

सगडो हिओ। ता इमं पि बइल्लं गेण्हह। मम पुण सत्तुयादुपालियं देह, जं घेत्तूण वच्चामि त्ति। न य अहं जस्स व तस्स व हत्थेणं गेण्हामि, जा तुज्झ घरिणी पाणेहि वि पिययरी सव्वालंकारभूसिया तीए दायव्वा ततो मे परा तुट्ठी भविस्सइ। जीवलोगब्भंतरं व अप्पाणं मन्निस्सामि। ततो तेहिं सक्खी आहूया भणियं च—एवं होउ त्ति। ततो ताणं पुत्तमाया सत्तुयादुपालियं घेत्तूण निग्गया, तेण सा हत्थे गहिया, घेत्तूण तं पट्ठिओ। तेहिं वि भणिओ—किमेयं करेसि? तेण भणियं—सत्तुदोपालियं नेमि। ततो ताणं सद्देण महाजणो संगहिओ, पुच्छिया—किमेयं ति। ततो तेहिं जहावत्तं सव्वं परिकहियं। समागयजणेण य मज्झत्थेण होऊण ववहारनिच्छओ सुओ। पराजिया य ते गंधियपुत्ता। सो य किलेसेण तं महिलियं मोयाविओ, सगडो अत्थेण सुबहुएण सह परिदिण्णो।

(संस्कृतच्छाया)

गृह्णीथ। मह्यं पुनः सक्तुक-द्विपालिकां दत्त, यां गृहीत्वा व्रजामि इति। न चाहं यस्य वा तस्य व हस्तेन गृह्णामि, या तव गृहामि, या तव गृहिणी प्राणैरपि प्रियतरी सर्वालङ्कारभूषिता तया दातव्या; ततो मे परा तुष्टिर्भविष्यति। जीवलोकाभ्यन्तरं इव आत्मानं मंस्ये। ततः तैः साक्षिण आहूताः भणितञ्च—एवं भवतु इति। ततः तेषां पुत्र-माता सक्तुकद्विपालिकां गृहीत्वा निर्गता। तेन सा हस्ते गृहीता, गृहीत्वा च तां प्रस्थितः। तैरपि भणितः किमेतत् करोसि? तेन भणितम्—सक्तुद्विपालिकां नयामि। ततस्तेषां शब्देन महाजनः संगृहीतः, पृष्टाः—किमेतदिति? ततस्तैर्यथावृत्तं सर्वं परिक-थितम्। समागतजनेन च मध्यस्थेन भूत्वा व्यवहारनिश्चयः श्रुतः। पराजितास्ते गान्धि-कपुत्राः। स च क्लेशेन तां महिलि[illegible]ां मोचापितः शकटोऽर्थेन सुबहुकेन सह परिदत्तः।

(हिन्दी-अनुवाद)

ने मेरी धान्य से भरी गाड़ी ले ली है। इसलिए इस बैल को भी ले लो। और मेरे लिए सत्तु-द्विपालिका अर्थात् दो पालि (धान्य नापने का नाप) सत्तू को दे दें जिसे लेकर मैं चला जाता हूँ। (वह) मैं जिस-किसी के हाथ से नहीं लूँगा (अपितु) जो तुम लोगों की प्राणों से भी अधिक प्यारी, समस्त अलंकारों से भूषित गृहिणी (हो) वह दे तो मुझे बड़ा सन्तोष होगा (तथा) अपने को जीव-लोक के अन्दर (जीवित) समझूँगा। तब उन लोगों ने गवाह बुलाए और कहा—ऐसा हो। तब उनके पुत्रों की माता सत्तु-द्विपालिका (अर्थात् दो पालि सत्तू) को लेकर निकली। उसने उस (स्त्री) को हाथ से पकड़ा। (और) उसे लेकर जाने लगा। उन लोगों ने कहा—यह क्या कर रहा है? उस (गाड़ी वाले) ने कहा—सत्तुद्विपालिका (अर्थात् दो पालि सत्तू वाली स्त्री) को ले जा रहा हूँ। तब उन (गांधिक-पुत्रों) की आवाज से बहुत आदमी इकट्ठे हो गये, (और) उन्होंने पूछा—यह क्या है। तब उन्होंने सब-कुछ सही बात बताई। इकट्ठे हुए मनुष्यों ने मध्यस्थ होकर झगड़े का फैसला सुनाया। वे गान्धिक-पुत्र हार गये। (फिर) उस (महाजन) ने बड़ी कठिनाई से उस स्त्री को छुड़वाया तथा बहुत अधिक धन के साथ गाड़ी दी (वापिस की) गई।

●

३३. कल्पना-विलसितम्

अह भणइ मूलदेवो—जं अणुभूअं मए तरुणभावे।
तं णिसुणेह अवहिआ कहिज्जमाणं सुजुत्तीए ॥१॥
तरुणत्तणम्मि अहयं इच्छिअसुहसंपयं अहिलसंतो।
धाराधरयट्ठाए सामि-गिहं पत्थिओ सुइरं ॥२॥
छत्तकमंडलुहत्थो पंथं वाहेमि गहिअपच्छयणो।
मत्तं पव्वयमित्तं पिच्छामि अ गयवरं इंतं ॥३॥
मेहमिव गुलगुलितं पभिण्णकरडामुहं महामत्तं।
दट्ठूण वणगइंदं भएण वेवतगत्तो हं ॥४॥
अत्ताणो अ असरणो कत्थ निलुक्कामि हं ति चिंतंतो।

(संस्कृतच्छाया)

अथ भणति मूलदेवो यदनुभूतं मया तरुणभावे।
तत् निश्रृणुत अवहिता कथ्यमानं सुयुक्त्या ॥१॥
तरुणत्वेऽहमिष्टसुखसम्पदमभिलषन्।
धाराधरणार्थाय स्वामि-गृहं प्रस्थितः सुचिरम् ॥२॥
छत्रकमण्डलुहस्तः पन्थानं वाहयामि गृहीतपथ्योदनो।
मत्तं पर्वतमित्रं प्रेक्षे च गजवरं आयन्तम् ॥३॥
मेघमिव गुलगुलायमानं प्रभिन्नकरटामुखं महामत्तम्।
दृष्ट्वा वनगजेन्द्रं भयेन वेपमानगात्रोऽहम् ॥४॥
आत्मनश्चाशरणः कुत्र निलीयेऽहमिति चिन्तयन्।

(हिन्दी-अनुवाद)

इसके बाद मूलदेव ने कहा—मेरे द्वारा यौवनावस्था में जो अनुभव किया गया, अच्छी उक्ति से कहे जानेवाले उस (अनुभव) को सावधान होकर सुनो ॥१॥

यौवन-काल में इच्छित सुख-सम्पत्ति को चाहनेवाले मैंने (गङ्गा की) धारा धारण करने के लिये स्वामि-गृह को प्रस्थान किया ॥२॥

छाता एवं कमण्डलु हाथ में लेकर तथा कलेवा ग्रहणकर मैं रास्ते में जा रहा था (कि) आते हुए पर्वत के समान मत्त श्रेष्ठ हाथी को (मैंने) देखा ॥३॥

मेघ की तरह चिंघाढ़नेवाले, छिन्न-भिन्न गण्डस्थलवाले महामत्त वन-गजेन्द्र को देखकर मैं भय से काँपने लगा ॥४॥

शरण-हीन मैं अपने को कहाँ छिपाऊँ ऐसा विचारता हुआ तथा मरण के भय

---

१. धूर्ताख्यान (८वीं शताब्दी) के पृ० २-३ से उद्धृत।

तो सहसा य अइगओ कमंडलुं मरणभयभीओ ॥५॥
अह सो वि मत्तहत्थी ऊसविअकरो सरोसरत्तच्छो।
मज्झाणुमग्गलग्गो कमंडलुं अइगओ सिग्घं ॥६॥
तो हं भयसंभंतो समंतओ विहुअं पलोअंतो।
हत्थि कमंडलुम्मी वामोहेऊण छम्मासं ॥७॥
गीवाइ णिग्गओ हं हत्थी वि ममाणुमग्गओ णिन्तो।
लग्गो बालग्गंते कुंडिअगीवाइ छिद्दम्मि ॥८॥
अहमवि अ णवरि पुरओ गंगं पिच्छामि रंगिरतरंगं।
फेणणिअरट्टहासं वणगयदंतक्खयतडग्गं ॥९॥
उम्मीसहस्सपउरं झस-मयर-ग्गाह-कुम्भपरियरियं।

(संस्कृतच्छाया)

ततः सहसा चातिगतः कमण्डलुं मरणभयभीतः ॥५॥
अथ सोऽपि मत्तहस्ती उच्छ्रितकरः सरोषरक्ताक्षः।
ममानुमार्गलग्नः कमण्डलुमतिगतः शीघ्रम् ६॥
ततोऽहं भयसम्भ्रान्तः समन्ततः विधुतं प्रलोकयन्।
हस्तिनं कमण्डलौ व्यामोह्य षण्मासम् ॥७॥
ग्रीवाया निर्गतोऽहं हस्त्यपि ममानुमार्गतो गच्छन्।
लग्नो वालाग्रान्ते कुण्डिकग्रीवायाश्छिद्रे ॥८॥
अहमपि च केवलं पुरतो गङ्गां प्रेक्षे रङ्गिलतरङ्गम्।
फेननिकराट्टहासं वनगजदन्तक्षततटाग्रम् ॥९॥
ऊर्मिसहस्रप्रचुरं झषमकरग्राहकूर्मपरिचरितम्।

(हिन्दी-अनुवाद)

से डरा हुआ (मैं) सहसा कमण्डलु में उतावली से घुस गया ॥५॥

इसके बाद ऊँची सूँढवाला, गुस्से से लाल आँखोंवाला तथा मेरा पीछा करने वाला वह मत्त हाथी भी जल्दी से कमण्डलु में उतावली से घुस गया ॥६॥

तब काँपते हुए हाथी को देखता हुआ भय से सम्भ्रान्त मैं छह महीने तक चारों ओर घूम कर टोंटी से बाहर निकल आया। मेरा पीछा करनेवाला हाथी भी निकला (किन्तु) टोंटी के अन्तिम छोर के छेद में बाल का अन्तिम भाग फँस गया ॥७-८॥

मैंने भी सामने केवल फेन-समूह से अट्टहास करती हुई, वन-गज के दाँतों के समान कटे हुए किनारोंवाली, हजारों प्रचुर लहरों से युक्त मछली, मगर, गाह, कूर्म से सेवित; युवती के हृदय की तरह अथाह, समुद्र की तरह अत्यधिक दूर है दूसरा पार

जुवइहिअय व्वऽगाहं उअहि व्व सुदूरपरपारं ॥१०॥

पहमन्नं अलहंतो तो हं इसुवेअवाहिणिं सिग्घं ।
बाहाहिं समुत्तिण्णो गोपयमिव भारहिं विउलं ॥११॥

तो सामिगिहं गंतुं छुहतण्हापरिसहेहिं सहमाणो ।
छम्मासा सीसेणं धरेमि धारा धरट्ठाए ॥१२॥

धारेऊण य धारं पयओ अहिवंदिऊण महसेणं ।
संपत्तो उज्जेणिं तुब्भेहिं समं च मिलिओ हं ॥१३॥

(संस्कृतच्छाया)

युवतिहृदयमिवागाधमुदधिमिव सुदूरपरपारम् ॥१०॥

पन्थानमन्यमलभमानः ततोऽहमिषुवेगवाहिनीं शीघ्रम् ।
बाहुभ्यां समुत्तीर्णो गोष्पदमिव भागीरथिं विपुलम् ॥

ततो स्वामिगृहं गन्तुं क्षुधातृष्णापरिषहाभ्यां सहमानः ।
षट्मासेभ्यः शीर्षेण धरामि धारा धरार्थाय ॥१२॥

धृत्वा च धारां प्रयतोऽभिवन्द्य महासेनम् ।
संप्राप्तो उज्जयनीं युष्माभिः समं च मिलितोऽहम् ॥१३॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(किनारा) जिसका ऐसी गंगा को देखा ॥९-१०॥

तदनन्तर दूसरा रास्ता न देखकर शीघ्रता से वाण के वेग के समान बहनेवाली गङ्गा को भुजाओं से ऐसे पार किया मानों गाय के खुर डूबने लायक पानी को पार किया हो ॥११॥

तब भूख-प्यास की कठिनाइयों को सहता हुआ स्वामि-गृह को (उद्यत हुआ)। पृथ्वी के (कल्याण के) लिए छः महीने तक गङ्गा की धारा को शिर पर धारण किया ॥१२॥

धारा को धारणकर तथा महासेन को नमस्कार कर (वहाँ से) चला (तथा) उज्जयिनी में आकर मैं तुम लोगों के साथ मिल गया हूँ ॥१३॥

३४. अर्थोऽप्यनर्थः[1]

इह आसि वसंतपुरे परोप्परं नेह-निब्भरा मित्ता ।
खत्तिय-माहण-वाणिय-सुवण्णयार त्ति चत्तारि ॥१॥
ते अत्थविढवणत्थं चलिया देसंतरं नियपुराओ ।
पत्ता परिब्भमन्ता भूमिपइट्ठम्मि नयरम्मि ॥२॥
रयणीइ तस्स बाहिं उज्जाणे तरुतलम्मि पासुत्ता ।
पढमपहरम्मि चिट्ठइ जग्गंतो खत्तिओ तत्थ ॥३॥
पेच्छइ तरुसाहाए पलंबमाणं सुवण्णपुरिसं सो ।
विम्हियमणेण भणियं अणेण सो एस अत्थो त्ति ॥४॥
कणयपुरिसेण संलत्तमत्थि अत्थो परं अणत्थजुओ ।

(संस्कृतच्छाया)

इह आसीद् वसन्तपुरे परस्परं स्नेहनिर्भराणि मित्राणि ।
क्षत्रिय-ब्राह्मण-वाणिज-सुवर्णकारा इति चत्वारि ॥१॥
ते अर्थोपार्जनार्थं चलिता देशान्तरं निजपुरतः ।
प्राप्ताः परिभ्रमन्तो भूमिप्रतिष्ठे नगरे ॥२॥
रजन्यां तस्य बहिरुद्याने तरुतले प्रसुप्ता ।
प्रथमप्रहरे तिष्ठति जाग्रत् क्षत्रियस्तत्र ॥३॥
पश्यति तरुशाखायां प्रलम्बमानं सुवर्णपुरुषं सः ।
विस्मितमनसा भणितमनेन स एवोऽर्थ इति ॥४॥
कनकपुरुषेण संलपितं अस्त्यर्थः परमनर्थयुतः ।

(हिन्दी-अनुवाद)

यहाँ वसन्तपुर में परस्पर स्नेह से परिपूर्ण क्षत्रिय, ब्राह्मण, बनिया तथा सुनार—ये चार मित्र थे ॥१॥

वे धन कमाने के लिए अपने नगर से दूसरे देश रवाना हुए । घूमते हुए (वे) भूमि-प्रतिष्ठ (नामक) नगर में पहुँचे ॥२॥

रात में (वे) उस (नगर) के बाहर उद्यान में (स्थित) पेड़ के नीचे सो गए । प्रथम प्रहर में वहाँ क्षत्रिय जागता रहा ॥३॥

उसने पेड़ की डाली पर लटकते हुए सुवर्ण-पुरुष को देखा । आश्चर्य-चकित इस (क्षत्रिय) ने उस (सुवर्ण-पुरुष) से कहा—यह अर्थ (धन) है ॥४॥

सुवर्ण-पुरुष ने कहा—अर्थ है लेकिन अनर्थ से युक्त है । तब क्षत्रिय ने कहा—

---

१. कुमारपाल-प्रतिबोध के चतुर्थ प्रस्ताव (पृ० ३३२-३३३) से उद्धृत ।

तो खत्तिएण वुत्तं जइ एवं ता अलं अम्ह ॥५॥
बीए जामे जग्गइ माहणो सो वि पिच्छइ तहेव।
तइयम्मि वाणिओ तं दट्ठूण न लुब्भए तम्मि ॥६॥
जग्गइ चउत्थजामे सुवण्णयारो सुवण्णपुरिसं तं।
दट्ठूण विम्हियमणो भणइ इमं एस:अत्थो त्ति ॥७॥
पुरिसेण जंपियं एस अत्थि अत्थो परं अणत्थजुओ।
जंपइ सुवण्णयारो न होइ अत्थो अणत्थजुओ ॥८॥
पुरिसो जंपइ तो किं पडामि ? पडसु त्ति जंपइ कलाओ।
पडिओ सुवण्णपुरिसो छिंदइ सो अंगुलिं तस्स ॥९॥
खड्डाए पक्खित्तो सुवण्णपुरिसो सुवण्णयारेण।

(संस्कृतच्छाया)

तदा क्षत्रियेणोक्तं यद्येवं तदलमस्माभिः ॥५॥
द्वितीये यामे जागर्ति ब्राह्मणः सोऽपि पश्यति तथैव।
तृतीये वाणिजः तं दृष्ट्वा न लुभ्यति तस्मिन् ॥६॥
जागर्ति चतुर्थयामे सुवर्णकारः सुवर्णपुरुषं तम्।
दृष्ट्वा विस्मितमना भणति इदं एषोऽर्थ इति ॥७॥
पुरुषेण जल्पितमेषोऽस्ति अर्थः परमनर्थयुतः।
जल्पति सुवर्णकारो न भवति अर्थोऽनर्थयुतः ॥८॥
पुरुषो जल्पति तदा किं पतामि ? पत इति जल्पति कलादः।
पतितः सुवर्णपुरुषः छिनत्ति सोऽङ्गुलिं तस्य ॥९॥
गर्ते प्रक्षिप्तः सुवर्णपुरुषः सुवर्णकारेण।

(हिन्दी-अनुवाद)

यदि इस प्रकार हैं तो हम लोगों को आवश्यकता नहीं है ॥५॥

दूसरे प्रहर ब्राह्मण जागा, उसने भी वही देखा। तीसरे (प्रहर) में वनिये ने उसे देखकर उसमें लोभ नहीं किया ॥६॥

चौथे प्रहर सुनार जागा (ओर) सुवर्ण-पुरुष को देखकर आश्चर्य-चकित होकर बोला—यह अर्थ (धन) है ॥७॥

(सुवर्ण) पुरुष ने कहा—यह अर्थ है लेकिन अनर्थ से युक्त है। सुनार ने कहा—अर्थ अनर्थ से युक्त नहीं होता है ॥८॥

तब (सुवर्ण) पुरुष ने कहा—क्या गिरूँ ? सुनार ने कहा—गिरो। सुवर्ण-पुरुष गिर गया। उस (सुनार) ने उस (सुवर्ण-पुरुष) की अङ्गुली काट ली ॥९॥

सुनार ने सोने के पुरुष को गड्ढे में फेंक दिया। सबेरे वे सब जाने लगे तब

गोसम्मि पत्थिया ते सुवण्णयारेण तो भणिया ॥१०॥
किं देसंतरभमणेण अत्थि एत्थ वि इमो कणयपुरिसो ।
खड्डाए मए खित्तो तं गिण्हह विभज्जिउं सव्वे ॥११॥
तो सव्वे वि नियत्ता अंगुलिकणगेण भत्तमाणेउं ।
वणिओ सुवण्णयारो य दोवि पत्ता नयरमज्झे ॥१२॥
चिंतियमिमेहिं हणिमो खत्तियजेमाहणसुए उवाएण ।
अम्हं चिय दोण्हं जेण होइ एसो कणयपुरिसो ॥१३॥
भुत्तूण सयं मज्झे समागया गहियकुसुमतंबोला ।
खत्तियमाहणजुगं विसमिस्सं भोयणं घेत्तुं ॥१४॥
बाहिं ठिएहिं तं चेव चिंतियं किं चिरं ठिया मज्झे ।

(संस्कृतच्छाया)

प्रभाते प्रस्थिताः ते सुवर्णकारेण तदा भणिताः ॥१०॥
किं देशान्तरभ्रमणेन अस्ति अत्राप्ययं कनकपुरुषः ।
गर्ते मया क्षिप्तस्तं गृह्णीत विभक्तुं सर्वे ॥११॥
तदा सर्वेऽपि निवृत्ता अङ्गुलिकनकेन भक्तमानेतुम् ।
वणिक्-सुवर्णकारश्च द्वावपि प्राप्तौ नगरमध्ये ॥१२॥
चिन्तितमाभ्यां हन्वः क्षत्रियब्राह्मणसुतौ उपायेन ।
आवयोरेव द्वयोः येन भवति एष कनकपुरुषः ॥१३॥
भुक्त्वा स्वयं मध्ये समागतौ गृहीतकुसुमताम्बूलौ ।
क्षत्रियब्राह्मणयुग्मं विषमिश्रं भोजनं गृहीत्वा ॥१४॥
बहिः स्थिताभ्यां तदेव चिन्तितं किं चिरं स्थितौ मध्ये ।

(हिन्दी-अनुवाद)

सुनार ने (उन लोगों से) कहा ॥१०॥

देशान्तर भ्रमण से क्या (प्रयोजन) है ? यहीं पर यह सोने का पुरुष है। (उसे) मैंने गड्ढे में फेंक दिया है। सभी को बाँटने के लिए उसे उठा लें ॥११॥

तब सभी रुक गये। सोने की अङ्गुली से भोजन लाने के लिए बनिया एवं सुनार दोनों नगर में गए ॥१२॥

इन दोनों (बनिया तथा सुनार) ने सोचा (कि किसी) उपाय से क्षत्रिय एवं ब्राह्मण के बच्चों को मार दें जिससे यह सुवर्ण-पुरुष हम दोनों का हो जाय ॥१३॥

स्वयं (नगर के) मध्य में भोजन कर और कुसुम तथा पान लिए हुए (बनिया एवं सुनार) क्षत्रिय एवं ब्राह्मण के लिए विष मिले भोजन को लेकर आये ॥१४॥

बाहर खड़े हुए (क्षत्रिय एवं ब्राह्मण) इन दोनों ने वही विचारा (और) "तुम दोनों ने (नगर के) बीच में बहुत देरी क्यों की" ऐसा कहते हुए तलवार से दोनों

तुब्भे त्ति भणंतेहिं दुन्नि वि खग्गेण निग्गहिया ॥१५॥
विसमिस्सं भत्तं भुंजिऊण दियखत्तिया वि वावन्ना।
इअ एसा पाविड्ढी पाविज्जइ पावपसरेणं ॥१६॥

(संस्कृतच्छाया)

युवामिति भणद्भ्यां द्वावपि खड्गेन निग्रहितौ ॥१५॥
विषमिश्रं भक्तं भुक्त्वा द्विजक्षत्रियावपि व्यापन्नौ।
इत्येषा पापर्धिः प्राप्यते पापप्रसरेण ॥१६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(बनिया एवं सुनार) को मार डाला ॥१५॥

विष मिले भोजन को खाकर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भी मर गए। इस प्रकार यह पापसम्पत्ति पाप के विस्तार के साथ पाई जाती है ॥१६॥

३५. रत्नलाभ-योग्यता[1]

एगम्मि नयरपवरे अत्थि कलाकुसलवाणिओ को वि।
रयणपरिक्खागन्थं गुरूण पासम्मि अब्भसइ ॥१॥
सोगन्धियकक्केयणमरगयगोमेअइंदनीलाणं।
जलकन्तसूरकन्तयमसारगल्लङ्कफलिहाणं ॥२॥
इच्चाइयरयणाणं लक्खणगुणवण्णनामगोत्ताइं।

(संस्कृतच्छाया)

एकस्मिन् नगरप्रवरे अस्ति कलाकुशलवाणिजः कोऽपि।
रत्नपरीक्षाग्रन्थं गुरूणां पार्श्वे अभ्यस्यति ॥१॥
सौगन्धिक-कर्केतन मरकत-गोमेद-इन्द्रनीलानाम्।
जलकान्त-सूर्यकान्तक-मसारगल्ल-अङ्क-स्फटिकानाम् ॥२॥
इत्यादिकरत्नानां लक्षण-गुण-वर्ण-नाम-गोत्राणि।

(हिन्दी-अनुवाद)

एक श्रेष्ठ नगर में कलाओं में कुशल कोई बनिया रहता था। वह गुरुओं के पास रत्न-परीक्षा नामक ग्रन्थ का अभ्यास करता था ॥१॥

मणि की परीक्षा में निपुण वह सौगन्धिक, कर्केतन, मरकत, गोमेद, इन्द्रनील,

---

१. कुम्मापुत्तचरियं (१६ वीं शताब्दी) से (गाथा ७२-८६) उद्धृत।

सव्वाणि सो वियाणइ वियक्खणो मणिपरिक्खाए ॥३॥
अह अन्नया विचिन्तइ सो वणिओ "किमवरेहि रयणेंहि ।
चिन्तामणी मणीणं सिरोमणी चिन्तियत्थकरो ॥४॥
तत्तो सो तस्स कए खणेइ खाणीउ णेगठाणेसु ।
तह वि न पत्तो स मणी विविहेहि उवायकरणेहि ॥५॥
केण वि भणिअं "वच्चसु वहणे चडिऊण रयणदीवम्मि ।
तत्थत्थि आसपूरी देवी तुह वंछियं दाही ॥६॥
सो तत्थ रयणदीवे संपत्तो इक्कवीसखवणेंहि ।
आराहइ तं देविं, संतुट्ठा सा इमं भणइ ॥७॥
"भो भद्द केण कज्जेण अज्ज आराहिया तए अहयं ।

(संस्कृतच्छाया)

सर्वाणि स विजानाति विचक्षणो मणिपरीक्षायाम् ॥३॥
अथान्यदा विचिन्तयति स वणिक् किमपरैः रत्नैः ।
चिन्तामणिर्मणीनां शिरोमणिश्चिन्तितार्थकरः ॥४॥
तत्र स तस्य कृते खनति खनित्र्या अनेकस्थानेषु ।
तथापि न प्राप्तः स मणिः विविधैरुपायकरणैः ॥५॥
केनापि भणितं—व्रज वहने आरुह्य रत्नद्वीपे ।
तत्रास्ति आशापूरी देवी ते वाञ्छितं दास्यति ॥६॥
स तत्र रत्नद्वीपे सम्प्राप्तः एकविंशतिक्षपणैः ।
आराध्नोति तां देवीं संतुष्टा सा इमं भणति ॥७॥
भो भद्र ! केन कार्येण अद्य आराधिता त्वया अहम् ।

(हिन्दी-अनुवाद)

जलकान्त, सूर्यकान्त, मसारगल्ल, अङ्क, स्फटिक इत्यादि रत्नों के लक्षण, गुण, वर्ण, नाम, गोत्र (इन) सभी को जानता था ॥२-३॥

इनके बाद किसी (एक) समय उस बनिये ने विचारा—"दूसरे रत्नों से क्या (प्रयोजन), चिन्तित-अर्थ को करनेवाला चिन्तामणि मणियों में शिरोमणि (सर्वश्रेष्ठ) है ॥४॥

उसने उस (मणि) के लिए वहाँ अनेक जगह फावड़े से खोदा तो भी (उसने) नाना प्रकार के उपायों से उस मणि को नहीं पाया ॥५॥

किसी ने कहा—"नाव पर चढ़कर रत्नद्वीप जाओ । वहाँ आशापूरी (नाम की) देवी है (जो) तुम्हारे लिए इच्छित (रत्न) को देगी" ॥६॥

वह उस रत्नद्वीप में पहुँचा तथा इक्कीस उपवासों से उस देवी की उपासना की । सन्तुष्ट होकर उस (देवी) ने इससे कहा—"हे भले आदमी । आज तुमने मेरी

सो भणइ "देवि चिन्तामणीकए उज्जमो एसो" ॥८॥
देवी भणइ "भो भो ! नत्थि तुहं कम्ममेव सम्मकरं।
जेणप्पन्ति सुरा वि य धणाणि कम्माणुसारेणं ॥९॥
स भणइ "जइ मह कम्मं हवेइ, तो तुज्झ कीस सेवामि।
ता मज्झ देसु रयणं पच्छा जं होउ तं होउ" ॥१०॥
दत्तं चिन्तारयणं तो तीए तस्स रयणवणिअस्स।
सो नियगिहगमणत्थं संतुट्ठो वाहणे चडिओ ॥११॥
पोअपएसनिविट्ठो वणिओ जा जलहिमज्झमायाओ।
ताव य पुव्वदिसाए समुग्गओ पुण्णिमाचन्दो ॥१२॥
तं चन्दं दट्ठूणं नियचित्ते चिन्तए स वाणियओ।

(संस्कृतच्छाया)

स भणति "देवि ! चिन्तामणिकृते उद्यम एषः" ॥८॥
देवी भणति "भो ! नास्ति तव कर्म एव शर्मकरम्।
येनार्पयन्ति सुरा अपि च धनानि कर्मानुसारेण" ॥९॥
स भणति "यदि मम कर्म भवति तदा तव कस्मात् सेवे।
तद् मम देहि रत्नं पश्चात् यद् भवतु तद् भवतु" ॥१०॥
दत्तं चिन्तारत्नं तदा तया तस्मै रत्नवणिजे।
स निजगृहगमनार्थं संतुष्टो वाहने आरूढः ॥११॥
पोतप्रदेशनिविष्टो वणिग् यदा जलधिमध्यमायातः।
तावच्च पूर्वदिशायां समुद्गतः पूर्णिमाचन्द्रः ॥१२॥
तं चन्द्रं दृष्ट्वा निजचित्ते चिन्तयति स वाणिजकः।

(हिन्दी-अनुवाद)

किस कार्य के लिए उपासना की है" ? उसने कहा—"हे देवि ! चिन्तामणि के लिए यह उद्योग (किया गया है)" ॥७-८॥

देवी ने कहा—(हे भले आदमी) तुम्हारा कर्म ही सुखकर नहीं है। कारण, देव भी कर्मों के अनुसार धन को देते हैं ॥९॥

उसने कहा—यदि मेरा कर्म (इस योग्य) होता तो तुम्हारी उपासना क्यों करता ? इसलिए मेरे लिए रत्न दो बाद में जो हो सो हो ॥१०॥

तब उस (देवी) ने उस (रत्न के इच्छुक) बनिए के लिए चिन्तारत्न को दे दिया। सन्तुष्ट (होकर) वह (बनिया) अपने घर जाने के लिए नाव पर चढ़ गया ॥११॥

नाव के किनारे पर बैठा हुआ बनिया जब समुद्र के मध्य में आया तब पूर्व दिशा में पूर्णिमा का चन्द्रमा उदित हुआ ॥१२॥

उस बनिये ने उस चन्द्रमा को देखकर अपने मन में सोचा (कि) चिन्तामणि

चिन्तामणिस्स तेअं अहिअं अहवा मयङ्कस्स ॥१३॥
इय चिन्तिऊण चिन्तारयणं नियकरतले गहेऊणं ।
नियदिट्ठीइ निरिक्खइ पुणो पुणो रयणमिन्दुं च ॥१४॥
इय अवलोयन्तस्स य तस्स अभग्गेण करतलपएसा ।
अइसुकुमारमुरालं रयणं रयणायरे पडियं ॥१५॥
जलनिहिमज्झे पडिओ बहुबहु सोहन्तएण तेणावि ।
किं कह वि लब्भइ मणी सिरोमणी सयलरयाणं ॥१६॥

(संस्कृतच्छाया)

चिन्तामणेस्तेजोऽधिकमथवा मृगाङ्कस्य ॥१३॥
इति चिन्तयित्वा चिन्तारत्नं निजकरतले गृहीत्वा ।
निजदृष्ट्या निरीक्षते पुनः पुनः रत्नमिन्दुञ्च ॥१४॥
इत्यवलोकयतश्च तस्याभाग्येन करतलप्रदेशात् ।
अतिसुकुमारमुदारं रत्नं रत्नाकरे पतितम् ॥१५॥
जलनिधिमध्ये पतितो बहु बहु शोधयता तेनापि ।
किं कथमपि लभ्यते मणिः शिरोमणिः सकलरत्नानाम् ॥१६॥

(हिन्दी-अनुवाद)

की चमक अधिक है या चन्द्रमा की ? ॥१३॥

इस प्रकार विचारकर चिन्ता-रत्न को अपनी हथेली पर लेकर अपनी नजर से रत्न एवं चन्द्रमा को बार-बार देखने लगा ॥१४॥

इस प्रकार देखते हुए उस (वनिए) के अभाग्य के कारण अत्यन्त सुकुमार एवं खरा रत्न हथेली से समुद्र में गिर गया ॥१५॥

समुद्र के मध्य में गिरा हुआ सभी रत्नों में श्रेष्ठ वह मणि बहुत-बहुत खोजने वाले उसके द्वारा भी क्या किसी तरह प्राप्त किया जा सका ? ॥१६॥

३६. भाग्यं फलति सर्वत्र[1]

कम्मि गामे निद्धणो निब्भग्गो जणो अहेसि। सो कट्ठेण जीवणं निव्वहेइ। एगया सो वणंमि गओ। तत्थ एगो विज्जाहरो विज्जाहरी अ विमाणेण गच्छंति। सो निद्धणो तेहिं दंपईहिं दिट्ठो। विज्जाहरी तं निद्धणं दट्ठूणं नियभत्तारं कहेइ--हे पिय ! एसो निद्धणो अम्हाणं दिट्ठिपहंमि जइ समागओ तया एसो अवस्सं सुहं पावियव्वो। विज्जाहरो कहेइ—एसो निद्धणो निब्भग्गो अत्थि। दिण्णधणो वि निब्भग्गयाए सो निद्धणो होज्जा। विज्जाहरी कहेइ—पिय ! तुमं किवणो असि, तेण एवं कहेसि। विज्जाहरो कहेइ—हं सच्चं वएमि, हे पिए! तुम्ह वीसासो न होज्जा, तया एयस्स परिक्खं कुणेमो, "जंमि पहे एसो गच्छइ, तयग्गओ किंचि वि दूरे पहंमि कोडिमुल्लं एयं कुंडलं

(संस्कृतच्छाया)

कस्मिन् ग्रामे निर्धनो निर्भाग्यो जन आसीत्। स कष्टेन जीवनं निर्वहति। एकदा स वने गतः। तत्रैको विद्याधरो विद्याधरी च विमानेन गच्छतः। स निर्धनः ताभ्यां दम्पतीभ्यां दृष्टः। विद्याधरी तं निर्धनं दृष्ट्वा निजभर्तारं कथयति—हे प्रिय ! एष निर्धन आभ्यां दृष्टिपथे यदि समागतः तदा एषोऽवश्यं सुखं प्रापयितव्यः। विद्याधरः कथयति—एष निर्धनो निर्भाग्योऽस्ति। दत्तधनोऽपि निर्भाग्यतया स निर्धनो भवेत्। विद्याधरी कथयति–प्रिय ! कृपणोऽसि तेनैवं कथयसि। विद्याधरः कथयति—अहं सत्यं वदामि, हे प्रिये ! तुभ्यं विश्वासो न भवेत्तदा एतस्य परीक्षां कुर्वः। "यस्मिन् पथिक एष गच्छति, तदग्रतः किञ्चिदपि दूरे पथि कोटिमूल्यं एतत् कुण्डलं स्थापयिष्यामि।

(हिन्दी-अनुवाद)

किसी ग्राम में निर्धन (गरीब) एवं निर्भाग्य (अभागा) मनुष्य था। एक बार वह वन में गया। वहाँ पर एक विद्याधर एवं एक विद्याधरी विमान से जा रहे थे। वह निर्धन उन पति-पत्नी के द्वारा देखा गया। विद्याधरी ने उस निर्धन को देखकर अपने पति से कहा—हे प्रिय ! यह निर्धन यदि हम लोगों के दृष्टि-पथ में आ गया है तो इसको अवश्य ही सुख मिलना चाहिए। विद्याधर ने कहा—यह गरीब एवं अभागा है। धन दिए जाने पर भी वह अभागेपन से गरीब हो जाएगा। विद्याधरी ने कहा—प्रिय ! तुम कंजूस हो, इसलिए ऐसा कह रहे हो। विद्याधर ने कहा—मैं सत्य कहता हूँ, हे प्रिये ! तुम्हारे लिए विश्वास न हो तो इसकी परीक्षा करते हैं। जिस रास्ते से यह जा रहा है उसके आगे कुछ ही दूर पर रास्ते में कोटि-मूल्य का यह कुण्डल रक्खूंगा। यदि वह इसको ले ले तो यह कुण्डल उसका (होगा) ऐसा कहकर उस विद्याधर ने उस निर्धन के न अत्यन्त पास और न अत्यन्त दूर पर

---

१. पाइअविन्नाणकहा (२० वीं शताब्दी) के पृ० ५२-५३ से उद्धृत।

ठविस्सामि, जइ सो तं गिण्हेज्जा, तया तस्स इमं कुंडलं" एवं कहिऊण सो विज्जाहरो तस्स निद्धणस्स नाइदूरे नच्चासण्णे तं कुंडलं मग्गे ठवीअ। गच्छंतस्स तस्स तं कुंडलं जया समीवमागयं, तया सो भग्गहीणयाए एवं चिंतेइ—अंधो कहं चलेज्ज। एवं चिंतित्ता सो अंधो भविऊण मग्गे ताव चलिओ, जाव तं कुंडलं पच्छा ठिअं। सो निद्धणो सम्मुहत्थं पि कुंडलं निब्भग्गयाए न पावीअ। तं च कुंडलं विज्जाहरेण गहीअं। एवं भग्गहीणा पुरिसा सम्मुहत्थं पि दव्वं न पासिंति।

निब्भग्गस्स कहं एयं सुणिऊण जणा सया।
सोहग्गकारणे धंम्मे उज्जमेज्जा हियट्ठिणो॥

(संस्कृतच्छाया)

यदि स तं गृह्णीयात् तदा तस्येदं कुण्डलम्"—एवं कथयित्वा स विद्याधरः तस्य निर्धनस्य नातिदूरे नात्यासन्ने तत् कुण्डलं मार्गेऽस्थापयत्। गच्छतः तस्य तत् कुण्डल यदा समीपमागतम्, तदा स भाग्यहीनतया एवं चिन्तयति—अन्धः कथं चलति, एवं चिन्तयित्वा स अन्धो भूत्वा मार्गे तावच्चलितो यावत् तत् कुण्डलं पश्चात् स्थितम्। स निर्धनः सम्मुखस्थमपि कुण्डलं निर्भाग्यतया नाप्राप्नोत् तच्च कुण्डलं विद्याधरेण गृहीतम्। एवं भाग्यहीनाः पुरुषाः सम्मुखस्थमपि द्रव्यं न पश्यन्ति।

निर्भाग्यस्य कथामेतां श्रुत्वा जना सदा।
सौभाग्यकारणे धर्मे उद्यच्छेयुर्हितार्थिनः॥

(हिन्दी-अनुवाद)

(अर्थात् कुछ ही दूरी पर) मार्ग में वह कुण्डल रख दिया। जाते हुए उसके वह कुण्डल जब पास में आया तब उसने भाग्य-हीनता के कारण इस प्रकार सोचा—अंधा कैसे चलता है" इस प्रकार विचारकर वह अंधा होकर मार्ग में तब-तक चला जब-तक वह कुण्डल पीछे निकल गया। उस निर्धन ने सामने स्थित भी कुण्डल को भाग्य-हीनता के कारण नहीं पाया और वह कुण्डल विद्याधर के द्वारा उठा लिया गया। इस प्रकार भाग्य-हीन पुरुष सामने स्थित भी द्रव्य को नहीं देखते हैं।

अभागेपन की इस कथा को सुन कर हित को चाहनेवाले मनुष्य सदा सौभाग्य के कारणभूत धर्म में उद्युक्त हों।

आधार-ग्रन्थ-सूची

अभिज्ञान-शाकुन्तल (कालिदास), Monier Williams, Oxford, 1876.

आचाराङ्गसूत्र-दीपिका, आचार्य विजय सूरि, श्री मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, भावनगर, वि० सं० २००५.

उत्तराध्ययन-सूत्र, Jarl Charpentier, Uppsala, 1942.

उसाणिरुद्ध (रामपाणिवाद), Pt. Subrahmanya Shastri & Dr. C. Kunhan Raja. The Adyar Library, Madras, 1943.

कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामि-कुमार), डा० नेमिनाथ तनय आदिनाथ उपाध्ये, श्री रावजी भाई देसाई, अगास, १९६०

कर्पूरमञ्जरी (राजशेखर) Sten Konow, Motilal Banarsidass, Varanasi, 1963.

कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभ सूरि), मुनि जिनविजय, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, वड़ौदा, १९२०.

कुम्मापुत्तचरिय (जिनमाणिक्य), A. T. Upadhye, Belgaum, 1936.

गउडवह (वाक्पतिराज), शंकर पांडुरंग पंडित, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1927.

गाथासप्तशती (हाल द्वारा संकलित), सदाशिव आत्माराम जोगलेकर, प्रसाद-प्रकाशन, पूना, १९५६.

चारुदत्त (भास), T. Ganapati Shastri, Trivandrum, 1922.

तन्दुलवैचारिक-प्रकीर्णक, पं० अम्बिकादत्त ओझा, श्री श्वे० साधुमार्गी जैन हितकारिणी संस्था, वीकानेर, वि० सं० २००६.

तिलोय-पण्णत्ती (यतिवृषभाचार्य), डा० ए० एन० उपाध्ये, एवं डा० हीरालाल जैन, जीवराम जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९४३.

दशवैकालिक-सूत्र, श्री आत्माराम महराजा, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९४६.

धूर्ताख्यान (हरिभद्र), डा० ए०एन० उपाध्ये, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९४४.

निरयावलिया, Dr. P. L. Vaidya, Nowrosjee Wadia College, Poona, 1935.

पउमचरिय (विमल सूरि), हर्मन याकोबी, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणासी, १९६२.

पाइय-विन्नाणकहा (आचार्य विजयकस्तूर सूरि), अहमदाबाद, वि० सं० २०१४.

पाइअ-सद्द-महण्णव (पं० हरगोविन्ददास), प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, १९६३.

प्राकृत-प्रकाश (वररुचि), Dr. C. Kunhan Raja, The Adyar Library Madras, 1946.

प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (आर० पिशल), अनु० डा० हेमचन्द्र जोशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५८.

प्राकृत-व्याकरण (श्री हृषीकेश शास्त्री द्वारा संकलित), कलकत्ता, १८८३.

प्राकृत-व्याकरण (हेमचन्द्र), Dr. P. L. Vaidya, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1958.

प्राकृत-व्याकरण (संक्षिप्त-सार) (क्रमदीश्वर)

प्राकृत-सर्वस्व (मार्कण्डेय)

मूलाचार (वट्टकेराचार्य), पं० पन्नालाल सोनी, श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ-माला-समिति, बम्बई, वि० सं० १९७७.

मूलाराधना (शिवकोटि आचार्य), बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, १९३५.

मृच्छकटिक (शूद्रक), Stenzler, Bonnae, 1847.

रावणवह-महाकाव्य (प्रवरसेन), डा० राधागोविन्द बसाक, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९५९.

वज्जालग्ग (जयवल्लभ द्वारा संकलित), Julius Labeur, Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta, 1944.

वसुदेवहिण्डि प्रथम खण्ड (संघदासगणिवाचक), मुनि पुण्यविजय जी आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, १९३०.

वेणीसंहार (भट्टनारायण), Julius Grill, Leipzig, 1871.

षट्खंडागम (पुष्पदन्त-भूतवली) भाग १, डा० हीरालाल जैन, जैन-साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, १९३९.

षट्प्राभृतादिसंग्रह (आचार्य कुन्दकुन्द), पं० पन्नालाल सोनी, श्री माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई, वि० सं० १९७७.

सूयगड, डा० पी० एल० वैद्य, सेठ मोतीलाल, पूना, १९२८.

A Manual of Ardha-Magadhi Grammar by Dr. P. L. Vaidya.

A Study of Ardha-Magadhi Grammar by H. B. Gandhi, Surat, 1938.

Introduction to Prakrit by A. C. Woolner, The University of Punjab, Lahore, 1917.

श्री गणेश पाण्डेय
नवीन छात्रावास
भोजनालय कक्ष नं. ४
सामू . . . .

O.P. Mishra. Narendra Chatravas

Room No-94